सत्य और स्वतंत्रता के उपासक

बा० गुलाबराय, एम० ए०

नारायण प्रकाशन,
आगरा ।

मूल्य १॥)

निवेदन

मनुष्य के अध्ययन का सबसे अधिक रुचिकर और उपयुक्त विषय मनुष्य ही है। अंग्रेज कवि पोप ने ठीक ही कहा है—The proper study of man is man—वैसे तो सारा साहित्य ही मानव-प्रधान है किन्तु जीवनी साहित्य विशेष रूप से मानव केन्द्रित है। हम मानव चरित्रों का अध्ययन केवल औत्सुक्य के कारण नहीं करते वरन् इसलिए करते हैं कि हम चरित्रनायकों की सफलताओं और बिफलताओं से लाभ उठायें, उनके जीवन पथ में आई हुई खाई-खन्दकों से बच सकें और उनके द्वारा छोड़े हुए आदर्शों के अनुकूल अपने चरित्र का निर्माण कर सकें। जीवनी-साहित्य वास्तव में जीवन का साहित्य है। इससे जीवन को ही आलोक मिलता है।

जीवनी लेखन भी एक कला है और जीवनी एक कलाकृति है। उस में उपन्यास की अपेक्षा घटनात्मक सत्य के प्रति अधिक आग्रह रहता है। मैंने अपनी पुस्तक 'काव्य के रूप' में जीवनी-साहित्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं:—

'जीवनी घटनाओं का अङ्कन नहीं वरन् चित्रण है। वह साहित्य की एक विधा है, उसमें साहित्य और काव्य के सभी गुण हैं। वह एक मनुष्य के अन्तर और वाह्य स्वरूप का (आपा या पर्सोनेलिटी का) कलात्मक निरूपण है। जिस प्रकार चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो उसके विभिन्न पक्षों में ओत-प्रोत रहता है और जिसमें नायक की सभी कलाएँ और छटाएँ समन्वित हो जाती हैं उसी प्रकार जीवनीकार अपने नायक के आपे की कुञ्जी समझ कर उस के आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है।'

प्रायः इन्हीं आदर्शों को सामने रखते हुए हमने इन जीवन-चरित्रों को लिखा है। इनमें घटनाओं और चरित्र-चित्रण का सन्तुलन रखने का प्रयत्न किया गया है किन्तु कुछ में जैसे सुकरात, बर्नार्ड शॉ आदि में उनके

जीवन की विशेष परिस्थितियों के कारण चरित्र को अधिक प्रधानता मिली है। कार्ल मार्क्स की जीवनी में विचार को अधिक महत्त्व मिला है और शॉ, टैगोर आदि की जीवनियों से साहित्यक कृतियों का दिग्दर्शन भी कराया गया है। इस संग्रह में उन्हीं चरित्र-नायकों को चुना गया है जिन्होंने विश्व की विचार-धारा को प्रभावित किया है और जिन्होंने सत्य और स्वतन्त्रता के लिए अपने निजी स्वार्थों का क्या जीवन तक का उत्सर्ग किया है।

भगवान बुद्ध ने विषमताओं के विरुद्ध सबसे पहली आवाज उठाई थी और संसार के कल्याण के लिए राज महल के सुखों का त्याग किया था और संसार को अहिंसा का पाठ पढ़ाया था। महार्षि सुकरात ने लोगों के विचारों का खोखलापन दिखा कर सत्य के अन्वेषण का मार्ग दिखाया और निर्भीकतापूर्वक सत्य के लिए लड़े और प्रसन्नता के साथ विषपान का दण्ड वरण किया। बर्नार्ड शॉ और रवीन्द्र ठाकुर ने साहित्य के द्वारा मानव विचारों को एक नया उत्थान दिया। रवीन्द्र ने ब्रिटिश अत्याचारों के विरोध में 'सर' की पदवी का परित्याग किया। रवीन्द्र और अरविन्द ने भारत की आध्यात्मिकता की छाप संसार में जमाई और नई भाषा में प्राचीन भावों को व्यक्त किया। आइन्सटीन का विज्ञान के लिए तो महत्त्व है ही किन्तु राजनीतिक महत्त्व भी कम नहीं। उनको हिटलर की यहूदियों के प्रति असहिष्णु भाव का शिकार बनना पड़ा और जर्मनी से भाग कर अमरीका में शरण लेनी पड़ी। वे एटम शक्ति के आविष्कर्ता अवश्य थे किन्तु निःशस्त्रीकरण के सदा पक्ष में रहे। वे पूर्णतया शान्तिवादी थे। सर चन्द्र शेखर वेंकट रमन ने अपनी खोजों द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़े हुए भारत का मस्तक गर्व से ऊँचा किया। उन्होंने अपनी नियुक्ति के लिए विलायत के विश्वविद्यालय की डिग्री प्राप्त करना अपना अपमान समझा। कलकत्ता विश्व-विद्यालय को झुकना पड़ा। कार्ल मार्क्स ने एक नया जीवन-दर्शन दिया और शोषित-वर्ग का पक्ष लिया। हम भौतिक मूल्यों की भी अपेक्षा नहीं कर सकते। हमको जीवन में भौतिक और आध्यात्मिक एवं कलात्मक मूल्य सभी का

सन्तुलन चाहिए। जहाँ कार्ल मार्क्स ने वर्ग संघर्ष का पथ दिखाया वहाँ गांधी और नेहरू ने शान्ति और सर्वोदय का मार्ग दिखाया। गांधी की सत्य और अहिंसा ने राजनीति के क्षेत्र को पवित्र किया है। तेनसिंग ने विदेशी पर्वतारोहियों से दृढ़ता के साथ मांग की, केवल माँग ही नहीं की वरन् उस माँग की सार्थकता भी प्रमाणित की। अपनी क्रियाशीलता और साहस के कारण भारत का मस्तक ऊँचा किया और संसार को दिखा दिया कि साहस के कार्य किसी एक रङ्ग विशेष के लोगों के एकाधिकार में नहीं हैं। इनमें स्वतन्त्रता और देश भक्ति की उपासिका दो देवियों का भी जीवनवृत्त दिया गया है। उनमें एक है देवी जोन ऑफ आर्क और दूसरी है, झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई का। इतिहास में ऐसे उदाहरण अनुपम हैं। दोनों ही ने स्वतन्त्रता की वलिवेदी पर अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।

इस प्रकार ये जीवनियाँ हमारे पाठकों के जीवन में एक सन्तुलनात्मक प्रेरणा उत्पन्न करने में सहायक होंगी। इन जीविनीयों के चयन में उपयोगिता का तो ध्यान रखा ही गया है किन्तु उनको साहित्यिक और सरस बनाने की ओर भी हमारा पूरा-पूरा ध्यान रहा है।

आशा है कि हमारे विद्यार्थी गण इन जीवनियों के अध्ययन से अपने मानसिक क्षितिज को विस्तृत ही नहीं करेंगे वरन् इन से अपनी जीवन नौका के खेने में प्रकाश स्तम्भ का काम लेंगे। तभी मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूंगा।

६-१०-५५ —गुलाब राय

विषय-सूची

१ : भगवान बुद्ध

प्रबल-पाखण्ड-महिमण्डलाकुल देखि निन्द्यकृत-अखिल-मखकर्मजालं।
शुद्धबोधैक घनज्ञान गुनधाम अज बुद्ध अवतार वंदे कृपालं॥

(विनय पत्रिका)

मनुष्य की सद्गति के तीन मार्ग ज्ञान, कर्म और भक्ति के बहुत प्राचीन काल के भारतवर्ष में माने जाते रहे हैं। कभी किसी की प्रधानता रहती है और कभी किसी की। यद्यपि वेदों में तीनों काण्डों को उचित स्थान मिला है तथापि पीछे से कर्मकाण्ड का कुछ प्राधान्य हो गया। कर्म-काण्ड के अन्तर्गत आने वाले यज्ञ आदि हिंसाप्रधान बन गए। लोग इन्द्रियों के सुख का बलिदान करने की अपेक्षा इन्द्रिय-लोलुपता में पड़ कर निरीह पशुओं का बलिदान करने लगे। चारों ओर यज्ञ स्तूपों और पशु बलि के दृश्य दिखाई देने लगे। लोगों ने अपने स्वार्थ-वश यह सिद्धान्त प्रचलित कर दिया था कि 'यज्ञकी हिंसा न हिंसा भवति'। वैदिक दर्शनों में भी इसके विरुद्ध आवाज उठाई गई थी किन्तु वेदों की मर्यादा से बँधे हुए दर्शन अपनी पुकार को पूर्णतया जोरदार न बना सके।

वर्ण-विभाग, जो आरम्भ में श्रम-विभाजन के आधार पर बना था, जातियों और उप-जातियों में बँट कर बड़ा संकुल और जटिल

बन गया। "गौड़ों में भी और" की बात चल पड़ी। वर्ण-विभाग द्वारा सामाजिक विषमताओं को बड़ा पोषण मिला। ऊँच-नीच की भावना जाग्रत हो गई। वर्ण विभाग ने समाज को छोटे-छोटे वर्गों में बाँट दिया और एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ सम्पर्क कम होने लगा। इन्हीं विषमताओं तथा बढ़ते हुए हिंसावाद को दूर करने के लिए भगवान बुद्ध का अवतार हुआ!

नैपाल की तराई में कपिलवस्तु नामक एक छोटा सा राज्य था। वह राज्य महर्षि कपिल की आज्ञा से उन्हीं के नाम पर, इक्ष्वाकु वंशी महाराज सुजात के अवपुर आदि पाँच राजकुमारों द्वारा, जो रामचन्द्र जी की भाँति अपनी विमाता के कुचक्र से वनवासी हुए थे, नींव डाली गई थी। ये लोग पीछे से शाक्य वंशी कहलाने लगे थे। इसी वंश में महाराज शुद्धोदन बड़े प्रतापी एवं धर्मात्मा राजा हुए।

पैंतालीस वर्ष की अवस्था में महाराज शुद्धोदन की पटरानी महामाया गर्भवती हुई थीं। रानी महामाया की यह अभिलाशा थी कि उनका यह प्रसव कार्य उनके मातृगृह में हो। इस हेतु महाराजा शुद्धोदन ने रानी महामाया की देवदह जाने की तैयारी कर दी। इस यात्रा के बीच में रानी महामाया लुम्बिनी-कानन (वर्तमान रुमिनदेई) में, जो कि महाराज शुद्धोदन का एक विहार-स्थल था, ठहरी थीं। वहीं पर प्रसव वेदना बढ़ी और वैशाख की पूर्णिमा को बुद्ध भगवान का जन्म हुआ। किन्तु महामाया देवी अपने पुत्र के जन्म के छः या सात दिनों पश्चात् परलोक सिधार गईं। पुत्र के पालन का भार उनकी विमाता और छोटी मौसी रानी प्रजावती (महा-प्रजावती) पर पड़ा। उन्होंने कुमार का बड़ी सावधानी के साथ लालन-पालन किया।

अन्य महापुरुषों के जन्म के समय उनकी महत्ता सूचनार्थ जैसी अति-प्राकृत घटनाओं का वर्णन शास्त्रों में देखने में आता है वैसी ही घटनाओं का होना बुद्धदेव के जन्म के समय भी बताया जाता है। उनका कुछ वर्णन पद्य चूणामणि के आधार पर दिया जाता है—

'वृक्षों की प्रत्येक शाखाओं में विचित्र रंग-विरंगे पत्रों के साथ कमलों

के समूह निकल आये जो ऐसे मालूम होते थे मानों वृक्ष सिद्धार्थ के दर्शन के लिए नेत्र वाले हो गए हैं ।'

'सहसा पृथ्वी को फोड़ कर ताड़ वृक्षों के बराबर ऊँचे जल के प्रवाह उठ खड़े हुए। वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानो शेषनाग के कुटुम्बी सर्पगण उस पुन्यात्मा को नमस्कार करने के लिए बाहर निकल आये हों।'

'मंगल सूचक शंख, आनक, मर्दल (मृदंग की तरह का बाजा) आदि वाद्य-स्वयं ही बजने लगे, मानो यह कह रहे हों कि संसार के मुनियों के अधिपति का जन्म हो गया है ।'

'गंभीर शब्द करने वाले बादल समय के बिना ही बरसने लगे। इस प्रकार सज्जनों में अग्रगण्य कुमार सिद्धार्थ के जन्म के समय आश्चर्य कर्म हुए।'

नवजात राजकुमार महापुरुषों के सब शुभ चिन्हों से सुशोभित थे। वे संसार में आकर महान कार्य करेंगे, ऐसी भविष्यवाणी आचार्यों और पण्डितों ने जन्मकाल पर ही कर दी थी। वह भविष्यवाणी पूरी हुई। उनका नाम सिद्धार्थ रखा गया, क्योंकि उनके सब अर्थ (मनोरथ) सिद्ध होने वाले थे।

कुमार सिद्धार्थ ने यथाविधि गुरु गृह पर रह कर विद्या प्राप्त की थी एवं अल्पकाल ही में अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण सर्व शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस विद्या ने उनके नैसर्गिक विनयादि गुणों को द्विगुणित कर दिया और इस प्रकार "विद्या ददाति विनयं" की लोकोक्ति को सार्थक किया। समावर्तन संस्कार होने पर कुमार सिद्धार्थ अपने पिता के साथ रहने लगे।

राजकुमार का संसार से वैराग्य तथा ध्यान में मग्न रहना महाराज शुद्धोदन से छिपा न रह सका, अतः उनका चित्त चिन्ताकुल होने लग गया। अपने पुत्र की सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति बढ़ाने के निमित्त तथा उनको विवाह योग्य देख महाराज शुद्धोदन ने कुमार सिद्धार्थ का विवाह देवदह की राजकुमारी यशोधरा (गोपा) के साथ कर दिया। विवाह तो हो गया किन्तु वह राजकुमार की वैराग्य-वृत्ति को न बदल सका।

महाराज ने अनेकानेक प्रकार की विलास-सामग्री एकत्रित कर दी। भिन्न-भिन्न ऋतुओं के अनुकूल राजकुमार के रहने के निमित्त प्रासाद एवं उद्यान बनवा दिए गये जब कुमार सिद्धार्थ की अवस्था २८ वर्ष की हुई तब महाराज शुद्धोदन को पौत्र का मुख देखने की आशा हुई। वही समय सिद्धार्थ के संन्यास का अवसर हुआ।

संसार से तो शाक्य कुमार को स्वाभाविक अरुचि थी ही किन्तु जब उन्होंने अपने भ्रमण में एक जर्जर वृद्ध-पुरुष, रोगी, शव तथा संन्यासी को देखा तब से उनके मन में संसार की क्षणभंगुरता और भी खटकने लगी। वे सोचने लगे जब सब को ही इस अवस्था को पहुँचना है तो भोग विलास से क्या? संसार को जरा-मरण के भय से मुक्त होना चाहिए। सारे संसार से उनको विरक्ति हो गई। जरा की सम्भावना वाले यौवन, व्याधि में ग्रस्त होने वाले स्वास्थ्य और अस्थिर जीवन एवं रतिरंगमय, हास-विलास यह सब क्षणभंगुरता के कारण उनकी जुगुप्सा के पात्र बन गए।

वे मन में सोचने लगे ऐसे 'यौवन को धिक्कार है जो शीघ्र ही जरा से ग्रस्त हो जाए और उस आरोग्य को भी धिक्कार है जिसको नाना प्रकार के रोगों से पराजित होना पड़े। उस जीवन को भी धिक्कार है जो चिर-स्थाई न हो। पंडितों के शृंगार सम्बन्धी रस-विलास को धिक्कार है क्योंकि यह सब क्षणभंगुर है।'

उन्होंने अपने पिता से अपनी इच्छा प्रकट की। यह सुन पिता को बड़ा दुख हुआ और उन्होंने अपने पुत्र को उसके दृढ़ संकल्प से फेरने के अनेक उपाय किए; किन्तु वे सब निष्फल हुए। राजकुमार ने कहा कि यदि कोई इस बात का निश्चय करा दे कि वे रोगग्रस्त न होंगे, वृद्धावस्था के क्लेशों से पीड़ित न होंगे, तथा मृत्यु के आक्रमण से निर्भय हो जावेंगे तो वे अवश्य ही संन्यास के संकल्प का त्याग कर देंगे। परन्तु महाराज शुद्धोदन क्या, कोई भी ऐसी सांसारिक शक्ति नहीं जो मनुष्य को जरा-मरण के भय से छुड़ा दे। राजकुमार अपने संकल्प में दृढ़ रहे।

कुछ दिनों के अनन्तर गोपा के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ। कुमार सिद्धार्थ पितृ-ऋण से मुक्त हो गए। सारे राज्य में हर्षोत्सव की धारा बह रही थी; किन्तु कुमार का हृदय संसार के दुख से दुखी था। उन्हें रात्रि में निद्रा नहीं आई। गृह में अपनी सुख-निद्रा मग्न स्त्री तथा नवजात शिशु का दर्शन करने के लिए भीतर राजभवन में प्रविष्ट हुए। क्षण भर में संसार के अन्तिम बन्धन के ऊपर विजय लाभ पाकर वे घर से बाहर आए। अपने अश्व को सजा कर, अपने सारथी छंदक को साथ लेकर, अर्ध रात्रि की निस्तब्धता में, कुमार ने गृह-त्याग किया।

इस अन्तिम विदा का पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध-चरित्र' में, बहुत ही उत्तम वर्णन किया है।

"त्यागत हौं मैं आज आपनो यह यौवन धन,
राजपाट, सुख भोग, बन्धु बान्धव औ परिजन,
सब सौं बढ़ि भुजपाश प्रिये! तव तजत मनोहर,
तजिबो जाको या जग में है सब सों दुष्कर।

× × ×

है जो फल लहलहे प्रेम को प्रथम हमारे—
ये देखन हित ताहि रहौं तो धैर्य सिधारे।
हे पत्नी, शिशु, पिता और मेरे प्रिय पुरजन!
कछुक दिवस सहि लेहु दुख जो परि है या छन।
जासौं निर्मल ज्योति जगै सो अति उजियारी,
लहैं धर्म को मार्ग सकल जग के नरनारी।
अब यह दृढ़ संकल्प; आज सब तजि मैं जैहौं,
जब लौं मिलि हैं नाहिं तत्व सो, नहिं फिरे ऐहैं।

कपिलवस्तु से छः योजन पर अनोभा नदी के तट पर पहुँच कुमार घोड़े से उतर पड़े और अपने वस्त्राभूषण छन्दक को सौंप, उसे कपिल वस्तु लौटने की आज्ञा दी। छन्दक की स्थिति सुमन्त से कुछ खराब ही

थी। सुमन्त तो सब के जानते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी को वन पहुँचाने गया था। छन्दक तो अपने ही उत्तरदायित्व पर कुमार के कठोर व्रत पालन में सहायक बना था। छन्दक को लौटाते समय कुमार ने पितृ-चरणों में यह संदेशा भेजा था कि "आप मेरे लिए शोक न करें। बुद्धत्व प्राप्त करके शान्त चित्त से मैं लौटूँगा।"

ज्यों ही छन्दक कपिलवस्तु पहुँचा और कुमार का संदेशा महाराज शुद्धोदन को सुनाया त्यों ही सारा राज्य शोक-सागर में निमग्न हो गया। चारों ओर खोज जारी हुई किन्तु कुमार का कहीं भी पता न लगा। 'बुद्धत्व प्राप्त कर शान्त चित्त से मैं लौटूँगा' बस इसी पर संतोष कर सब कोई शान्त रहे। यशोधरा ने छन्दक के लौटने पर उपालम्भ तो अवश्य दिए किन्तु पतिदेव की बुद्धत्व प्राप्त कर लौटने की प्रतीक्षा धैर्य-पूर्वक की और अपने पुत्र राहुल के पालन-पोषण में यत्नपूर्वक लगी रही।

छन्दक के चले जाने पर शाक्य कुमार ने ब्रह्मचारी का वेष धारण किया तथा कुछ दिनों तक वैशाली में रहे। वहाँ पर यह सुन कर कि राजगृह में रुद्रक नामक एक बड़े भारी पंडित रहते हैं उनसे मिलने के हेतु राजगृह गए। वहाँ पर इनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। वहाँ के राजा बिम्बसार इनके दर्शन करने आए। राजा बुद्ध की प्रतिभा और श्री सम्पन्नता देख कर मुग्ध हो गए और उन्हें भिक्षावृत्ति की अपेक्षा राज्य सुख-भोग के योग्य समझ अपना राज्य समर्पण करने लगे। किन्तु उन्होंने कामोपभोग और राज-सुख की क्षणभंगुरता बता कर राज्य पद ग्रहण करने से अस्वीकार कर दिया। गौतम कुछ दिन यहाँ रह कर तथा एक आचार्य आराड़कालाम के यहाँ रहे किन्तु वहाँ भी उनको पूर्ण संतोष न होने पर ज्ञान प्राप्त करने के लिए आगे चल दिए। वहाँ से पंचभद्रवर्गी ब्रह्मचारीगण इनके साथ हो लिए और उन्होंने भी इनके साथ ज्ञान प्राप्त करने का निश्चय कर लिया।

ये सब लोग गया की ओर चल दिए। वहाँ पहुँच कर इन ब्रह्मचारियों के साथ रह कर नाना प्रकार की तपश्चर्या कीं। अनशन-व्रतों के कारण इनका शरीर बिल्कुल कृश हो गया। अपनी शारीरिक निर्बलता के

ऊपर विचार कर के वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि तप-व्रत केवल साधन मात्र हैं। उन्होंने सोचा कि इस प्रकार शरीर को कृश कर देने से न अपना ही ज्ञान साधन ही हो सकता है और न ही दूसरों को ज्ञान देकर लाभ पहुँचाया जा सकता है। ऐसा विचार कर ऐसे जीवन से उन्होंने विराम लेने का विचार किया। किन्तु इनके निश्चय से ब्रह्मचारियों ने हृदय दौर्बल्य समझ इनका साथ छोड़ दिया और काशी चले गए।

गौतम कुछ दिनों के पश्चात् गया में बोधि तरु के नीचे समाधि लगा कर बैठ गए। हमारी इच्छाएँ तथा वासनाएँ हमारे सत्कार्यों में बाधक होती हैं। इन्हीं की मूर्तिमान सत्ता स्वरूप मार (काम देव) बोधिसत्व के कार्यों में विघ्न डालने को उपस्थित हुआ। उसकी रीति, प्रीति और तृष्णा नामक कन्याओं ने बोधिसत्व की समाधि में अनेक बाधाएँ डालनी चाहीं, किन्तु वे विचलित न हुए। बोधिसत्व ने काम की सब सेनाओं को पराजित कर दिया।

वैशाख की पूर्णिमा को बुद्ध गया के पास उरुवेला नामक स्थान में अनेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होने के पश्चात् उनको बुद्धत्व प्राप्त हो गया। उनको संसार का सारा रहस्य प्रकट हो गया। उनको सारा संसार दुखमय प्रतीत हुआ। इसी के साथ उनको दुख के कारण तथा उनको निरोध का उपाय भी ज्ञात हो गया। चार आर्य-सत्यों में बुद्धधर्म की नींव पड़ी। वे चार आर्य-सत्य इस प्रकार हैं:—

(१) दुःख है।

(२) दुःख समुदाय अर्थात् दुःख की उत्पत्ति होती है।

(३) दुःख निरोध अर्थात् दुख का निरोध सम्भव है।

(४) दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा अर्थात् दुःख निरोध को पहुँचाने वाला मार्ग भी है, वह मार्ग मध्यमार्ग कहलाता है।

बोधिज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् बुद्धदेव ने सात सप्ताह बोधि तरु के आसपास ही व्यतीत किए। अपने कठिन अनुभव से प्राप्त किए हुए आर्य सत्यों को बुद्धदेव ने गोपनीय रहस्य न बना कर, उनको संसार के लाभार्थ प्रकाशित करने का संकल्प किया। इसके साथ उन्हें यह विचार

भी आया कि आर्य-सत्यों का महत्त्व सब को बोधगम्य न होगा, अतः उन्हें उन पाँच ब्रह्मचारियों का स्मरण आया जिन्होंने उनके साथ गया क्षेत्र में तपस्या की थी। उनकी खोज में काशी चल दिए और पंचवर्गीय ब्रह्मचारियों के आश्रम में पहुँचे। जिन्हें गौतम के बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर पहले तो विश्वास न हुआ किन्तु बाद में उनके महत्त्वपूर्ण वार्तालाप से प्रभावित होकर पूर्ण विश्वास हो गया। तब गौतम बुद्ध ने अपने धर्मचक्र का उपदेश दिया एवं उनको काम-वासनाओं में लिप्त रह कर सुख-विलास का जीवन व्यतीत करने और शरीर को नाना प्रकार के क्लेश देकर उसको नष्ट करने के इन दोनों अन्तों के बीच का, मध्यमा प्रतिपदा नामक मार्ग बताया। यह प्रथम उपदेश 'धर्मचक्रप्रवर्तन' के नाम से ख्यात है। इस उपदेश को ग्रहण कर उन्होंने सहर्ष दीक्षा ली। इस प्रकार बुद्धदेव का संघ बढ़ने लगा और लोग उनके साथ रह कर धर्मोपदेश सुनने लगे।

कुछ दिन इसिपत्तन (सारनाथ) में रह कर बुद्धदेव ने वहाँ से राजगृह की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में प्रतिमा नदी के किनारे अनुपीय नामक आम्रवन में ठहरे थे। यहाँ से छन्दक को उन्होंने विदा किया था। यहाँ पर शाक्य वंशीय छः राजकुमारों ने उपालि नामक नापित के साथ बुद्धदेव की शिक्षा ग्रहण की तथा ब्रह्मचर्य धर्म धारण कर संघ में सम्मिलित हुए। इन शिष्यों में आनन्द; देवदत्त, उपालि, अनिरुद्ध का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आनन्द बुद्धदेव के शिष्यों में सर्वप्रिय थे। देवदत्त भी आनन्द की भाँति बुद्धदेव के स्वजनों में से थे। किन्तु ये बुद्धदेव के विरोधी एवं प्रतिद्वन्द्वी बन गए थे। बुद्धत्व प्राप्त कर लेने के पश्चात् बुद्धदेव अपनी राजधानी भी गए थे; वहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ। वहाँ पर उन्होंने अपने पुत्र राहुल को भी दीक्षा दी। राज्य के उत्तराधिकार के स्थान में उसे ज्ञान की सम्पत्ति का उत्तराधिकार दिया। इस घटना का श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने अपनी यशोधरा नाम की गद्यपद्यमय पुस्तक में बड़ा काव्यमय वर्णन किया है।

इस प्रकार राजगृह में अपने नये शिष्यों के साथ वास करके अनाथ

पिंडद नामक वणिक के निमन्त्रण पर श्रावस्ती गए। इस वैश्य ने इनके लिए जेतवन नामक विहार बनवाया। बुद्धदेव को यह स्थान बहुत प्रिय था। यहाँ उन्होंने कई चौमासे व्यतीत किए थे और अपने संघ को बहुत सी उत्तमोत्तम जातक कथाएँ सुनाईं एवं सिद्धान्त बताए। इस प्रकार बुद्ध-देव ने कई स्थानों में २० चतुर्मास बिताए। अन्त के २५ चतुर्मास श्रावस्ती में बिताए। वहाँ के दिए हुए उपदेशों से त्रिपिटक भरे पड़े हैं।

देवदत्त के साथ जो विरोध बढ़ा था वह भी बुद्धसंघ में बड़े महत्त्व का है। देवदत्त यशोधरा के भाई लगते थे। यद्यपि वे बुद्धदेव के शिष्य थे तथापि वे उनकी महत्ता से ईर्ष्या रखते थे और चाहते थे कि येनकेन-प्रकारेण स्वयं भी उनकी सी ख्याति प्राप्त कर लें।

देवदत्त ने संघ के नियमों में दोष देखना आरम्भ कर दिया और अपने को बुद्धदेव से बड़ा सिद्ध करने के हेतु नियमों को बहुत नरम बताया तथा उन्हें कड़ा बनाने का यत्न किया। देवदत्त राजगृह चले गए वहाँ राजा बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के पास रहने लगे। अजात-शत्रु ने उनके लिए एक विहार बनवा दिया। वहाँ पर रह कर उन्होंने एक नवीन सम्प्रदाय स्थापित किया। जब भगवान बुद्ध स्वयं राजगृह पहुँचे तो देवदत्त उनसे मिलने गए तथा अपने बनाए हुए कठिनतर नियमों के लिए अनुमति चाही। बुद्धदेव ने अनुमति न देकर कहा कि यद्यपि शरीर पापमय है तथापि इसको नष्ट करने का उद्योग श्रेयस्कर नहीं है। यह सुकार्यों का भी साधन है। जिस दीपक में तेल-बत्ती न रहेगी वह तुरन्त बुझ जाएगा। न तो सुखोपभोग में पड़ा रहना चाहिए और न शरीर को कष्ट देना परम लक्ष्य मान अन्य सब अच्छी बातों को भूल जाना चाहिए। यदि किसी को कठिनतर व्रत धारण करने की आवश्यकता हो तो वह प्रसन्नता से धारण करे किन्तु सब लोग उनके पालने करने के लिए बाधित न किए जावें।

देवदत्त को यह बहुत बुरा लगा कि उनकी बात न मानी गई और वे बुद्धदेव की और भी निन्दा करने लगे। बुद्धदेव ने यह सुनकर कहा कि ऐसा कोई नहीं है जिस पर दोष न लगाया जाता हो। यदि कोई चुप रहे

तो उसे दोषी ठहराया जाता है और बोले तो भी दोषीठहराया जाता है जो मध्य-पथ बताया गया है वह श्रेष्ठ है ।

देवदत्त ने अजातशत्रु को अपने पिता के विरुद्ध षडयंत्र रच राज्य छीन लेने की सलाह दी । जब अजातशत्रु राजा हो गया तब उसने बुद्धदेव को मार डालने की आज्ञा दी । मारने वाले जब बुद्धदेव के पास पहुँचे तो उनकी शान्ति को देख अपना कार्य भूल गए एवं उनके शिष्य हो गए । इस प्रकार अन्य अनेक मारने के प्रयोग किए किन्तु सब निष्फल गए ।

राजा अजातशत्रु जब अपने सब दुष्प्रयोग करके हार गया तब वह बुद्धदेव की शरण में आया और उन्होंने उसे सद्उपदेश दे शान्त किया । देवदत्त भी पीछे से रोगग्रस्त हो गए । अब वे अपनी कृति पर लज्जित हुए । उन्होंने अपने शिष्यों से बुद्धदेव के पास ले चलने की इच्छा प्रकट करते हुए कहा कि "बुद्धदेव मेरे सम्बन्धी हैं, वे मुझे अवश्य क्षमा कर देंगे । तुम लोग तुरन्त ही उनके समक्ष ले चलो ।" उनके शिष्य जब उन्हें पालकी में ले जाने लगे तो मार्ग में ही एक स्थान पर जब शिष्यों ने पालकी जमीन पर रखी और पानी लेने चले गए तो स्वयं देवदत्त भी पालकी से उतरे । किन्तु बाहर आते ही उनके पाँव जलने लगे और बुद्ध-देव को स्मरण करते ही उन्होंने प्राण त्याग दिए ।

इन घटनाओं के बाद बुद्धदेव राजगृह से श्रावस्ती आगए और वहाँ जेतवन में रहने लगे । पचीस वर्ष तक बुद्धदेव ने चतुर्मास वहीं पर व्यतीत किए किन्तु बीच-बीच में साल में एक बार पर्यटन अवश्य कर आते थे ।

भोग नगर से भगवान बुद्धदेव पर्यटन करते हुए पावा (पड़ौना) पधारे । वहाँ उनके आगमन का समाचार सुन चुन्द नामक लुहार जो वहाँ का प्रधान था, उनके पास आया और बड़ी विनय के साथ अपने घर भोजन करने का निमन्त्रण दिया । भगवान बुद्धदेव ने वह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया । चुन्द ने नाना प्रकार के भोजन बनाकर खिलाए । ऐसा भी कहा जाता है कि भोजन में शूकर का मांस भी था । इस सम्बन्ध में मतभेद है कि शूकर मद्दव एक प्रकार का कंद है जिसे सूअर भी पसन्द करते हैं । यह पदार्थ केवल बुद्धदेव को ही परोसा गया था । औरों के

लिए परसे जाने का निषेध कर दिया गया था, क्योंकि ऐसा अनुमान किया गया था कि इसे बुद्धदेव के अतिरिक्त और कोई नहीं पचा सकेगा। बुद्धदेव के खा चुकने पर बचे हुए पदार्थ को भूमि में गाड़ देने के लिए कहा गया था। उस दिन के खाने के बाद बुद्ध भगवान का स्वास्थ्य बिगड़ता गया।

बुद्धदेव पावा से कुशीनगर चले गए। यह कपिलवस्तु से प्रायः २० कोस पूरब की ओर था। मार्ग में उनका स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया। उनके पेट में मरोड़ होने लगी थी और आँव के दस्त शुरू हो गए थे। किन्तु उस समय भी उनके चित्त की शान्ति और एकाग्रता अद्भुत थी।

वहाँ से फिर भगवान बुद्ध कुशीनारा की ओर चले। मार्ग में कुकुत्था नदी के किनारे एक आम का बाग था। यह बाग चुन्द ही का था। यहाँ पर बुद्धदेव ने आनन्द से कहा कि चुन्द को कहीं यह पश्चाताप न हो कि बुद्धदेव की मृत्यु उसके यहाँ भोजन करने से ही हुई—उसे यह समझाकर रोक दिया जावे कि जो भोजन बुद्धदेव बुद्धत्व प्राप्त करने से पहले तथा निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व, करते हैं उसका बड़ा महत्त्व होता है, तथा खिलाने वाले का बड़ा पुण्य होता है। वहाँ थोड़ी देर विश्राम कर बुद्धदेव कुशीनारा को चले। वहाँ जाते समय उनका रोग इतना बढ़ गया कि उन्हें अपने जीवन की आशा न रही। हिरण्यवती को पार कर नगर के इस ओर शाल का एक वन था। वहाँ दो शाल वृक्षों के नीचे उनके लिए एक चारपाई बिछाई गई और वह उत्तर की ओर सिरहाना करके सीधी करवट लेट गए। वह भगवान बुद्ध का अन्तिम बार का लेटना था।

इस अवसर पर आनन्द ने भगवान बुद्ध से दो तीन प्रश्न किए कि हम स्त्रियों के प्रति कैसा व्यवहार करें तो उन्होंने उत्तर दिया 'उनकी ओर मत देखो'। इस पर आनन्द ने पुनः पूछा 'यदि देख लें तो क्या करें।' इसका उत्तर उन्होंने दिया 'बात मत करो'। आनन्द ने प्रश्न किया 'यदि वे बोले तो क्या करें'। बुद्ध ने उत्तर दिया 'जाग्रत रहो'। इसके अनन्तर आनन्द ने पूछा उनके निर्वाण के पश्चात् उनके शरीर की अन्तिम क्रिया किस प्रकार की जाए। इसका उत्तर पहले तो भगवान

बुद्ध ने यह दिया कि अपने कार्य में किसी प्रकार का विघ्न न पड़ने दो और उत्साह से करते रहो अंतिम क्रिया करने के लिए तो बहुत से गृहस्थ हैं। किन्तु आनन्द को दुबारा इसी प्रश्न के पूछने पर उन्होंने कहा 'जिस प्रकार राजेश्वरों का अन्तिम संस्कार किया जाता है उसी प्रकार तथागत का भी अन्तिम संस्कार किया जाय।'

इसके उपरान्त आनन्द रोने लगा और पश्चाताप करने लगा कि उसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त भी नहीं किया और बुद्ध देव निर्वाण प्राप्त कर जा रहे हैं। बुद्धदेव ने यह सुनकर उसे पास बुलाकर समझाया कि यह स्वाभाविक ही है कि प्रियजन पृथक हो जाते हैं जो वस्तु उत्पन्न होती है उसमें नाश लगा हुआ है। इसलिए दुख न करके अपना कार्य सच्चाई से करते रहना ही निर्वाण का मार्ग है। उन्होंने यह भी बताया कि वे संसार में पहले ही बुद्ध नहीं हैं और न ही अंतिम बुद्ध हैं : जब तक उनके अनुयायी तथा शिष्यगण पवित्रता के साथ धर्माचरण करते रहेंगे तब तक धर्मोन्नति होती रहेगी किन्तु जब सत्य की ज्योति मिथ्यात्व के मेघों में छिप जाएगी तब एक दूसरे बुद्ध का आविर्भाव होगा जो उनके बताए हुए धर्म का दुबारा प्रचार करेगें। उनका नाम मैत्रेय होगा।

बुद्धदेव के मरणासन्न होने का समाचार सुनकर मल्लों को बड़ा दुख हुआ और वे लोग दर्शनों के लिए आए। उस समय भी भगवान बुद्ध ने उन सब लोगों से अपनी अपनी शंकाएँ दूर कर लेने का अवसर दिया और उनकी शंकाओं का समाधान किया। उन्होंने आनन्द को बुलाकर कहा 'मेरे चले जाने के उपरान्त तुम लोगों में से कोई यह न सोचे कि अब हमारा कोई गुरू नहीं है। संघ के नियम तथा संघ के सिद्धान्त ही तुम्हारे गुरू होंगे।' इसके पश्चात् उन्होंने सब शिष्यों को जो वहाँ पर उपस्थित थे, बुलाकर कहा "जिसको जो कुछ पूछना हो पूछ ले, जिससे पीछे से किसी को यह दुख न रहे कि बुद्धदेव के रहते हुए वह अमुक बात न पूछ सका।" इस प्रकार भगवान बुद्ध ने तीन बार कहा किन्तु किसी ने कोई शंका न उठाई तो भगवान बुद्ध को तथा आनन्द को बड़ा हर्ष तथा संतोष हुआ। इसके बाद बुद्ध भगवान ने कहा "भाइयो! देखो, मैं तुमसे

आग्रहपूर्वक जो बातें कहता हूँ ध्यान देकर सुनो। सब पदार्थों में नाश लगा हुआ है। अपनी मुक्ति के लिए पूर्ण-परिश्रम के साथ यत्न करते रहना।" यही बुद्धदेव के अन्तिम शब्द थे।

इसके पश्चात क्रमशः बुद्धदेव समाधि की अवस्था में प्रवेश करते हुए अस्सी वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हो गए। उनके शरीर त्याग के पश्चात् मल्लों को संवाद भेजा गया। वह आबालवृद्ध वहाँ उपस्थित हुए और सात दिनों तक नृत्यगान द्वारा बुद्धदेव के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते रहे। आठवें दिन उनका अंतिम संस्कार किया गया। उनकी अस्थियाँ आठ भागों में इस प्रकार वितरित की गईं—
(१) मगध के राजा अजातशत्रु (२) वैशाली के लिच्छवि (३) कपिल-वस्तु के शाक्य (४) अल्ल कप्प के बुलिय (५) राम गाम के कोलिय (६) वेठ दीप के ब्राह्मण (७) पावा के मल्ल (८) कुशी नगर के मल्ल। द्रोण नामक ब्राह्मण ने अस्थियों के विभाग का झगड़ा तय किया था और स्वयं अपने लिए रिक्त कुम्भ से ही संतोष किया।

आठ स्तूप उन अस्थियों पर बनवाए गए। एक उस पात्र के लिये बनवाया गया जिसमें कि वे अस्थियाँ रखी गई थी। पिप्पली बन के मौर्यों ने सुना कि भगवान का शरीर भी बंट गया है और रिक्त कुम्भ भी चला गया है तो यहाँ के कोयला और भस्म भी उठा ले गए।

[भगवान बुद्ध के निर्वाण काल के विषय में कई मत हैं। किन्तु प्रधान मत विद्वद्वर काशी प्रसाद जायसवाल का प्रमाणित माना जा सकता है जिसके अनुसार बुद्धदेव का निर्वाण काल ५४४ ई० पू० निर्धारित किया है सिंहली परम्परा के साथ इसका पूर्ण सामंजस्य है इस प्रकार भगवान बुद्ध का जन्म सन् ६२४ ई० पू० मानना होगा।]

बौद्ध-सूक्तियाँ

१. अपने लिए स्वयं दीपक बनो। अपनी ही शरण लो। आलोक की भाँति सत्य का आश्रय लो।
२. मुझे आनन्द भोग रूपी सुवर्ण कारागार, जहाँ मेरा हृदय बंदी है, मनुष्य मात्र की मुक्ति के अर्थ त्याग देना चाहिए।

३. मनुष्य को क्रोध पर कृपा से और बुराई पर भलाई से विजय प्राप्त करनी चाहिए।

४. इस संसार में कभी घृणा का दमन घृणा से नहीं हुआ। केवल प्रेम ही घृणा का अन्त कर सकता है।

५. दुःख का समूल नाश करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

६. मनसा-वाचा-कर्मणा किसी को भी मत सताओ, सदा भलाई में रत रह कर प्रसन्न रहो।

७. न आकाश में, न समुद्र में, न पर्वतों की खोह में कोई ऐसा ठौर है, जहाँ पापी प्राणी अपने किए हुए पाप कर्मों से त्राण पा सके।

८. पर छिद्रान्वेषण में न रहो वरन् स्वयं अपने छिद्रों को देखो।

९. जिस प्रकार हवा में धूल फैंकने से वह फैंकने वाले ही पर उड़ती है, इसी प्रकार मनुष्य के कुकर्म जो भोले-भालों को सताने के निमित्त किए जाते हैं, वे उसी को कष्टदायक होते हैं।

१०. स्वास्थ्य सब से अच्छा वरदान है। संतोष सब से बढ़िया धन है। सच्चा मित्र सबसे बड़ा आत्मीय है, तथा निर्वाण उच्चतम आनन्द है।

११. मूर्ख मनुष्य दुर्वचन बोल कर खुद ही अपना नाश करते हैं।

१२. मेरा कर्म ही मेरा सर्वस्व धन है। मेरा कर्म ही मेरी पैतृक सम्पत्ति है।

१३. असफलता और आपत्तियों से अविचलित रह बुद्धिमान पुरुष अपने मन में विकार नहीं आने देते।

१४. इस सारे प्रपंच का मूल अहंकार है। इसका जड़ मूल से नाश कर देना चाहिए। अहंकार के समूल नाश से ही अन्तःकरण रमने वाली तृष्णाओं का अन्त हो सकता है।

१५. सौ वर्ष के आलसी और हीन-वीर्य जीवन की अपेक्षा एक दिन का दृढ़ कर्मण्यता का जीवन कहीं अच्छा है।

१६. यदि किसी कर्त्तव्य का पालन करना हो तो पूरी शक्ति एवं प्रयत्न से करो।

२ : महर्षि सुकरात

लगभग साढ़े चार सौ ईस्वी पूर्व एथेन्स नगर में, एक फटा लबादा पहिने, नंगे पैर और सूखे बालों वाला नाटे कद का हृष्ट पुष्ट पुरुष दिन भर घूमा करता था। कभी बाजार में, कभी मंडी में, कभी सभा में या किसी मित्र के घर पहुँच कर प्रश्नों की झड़ी लगा देता था। वह प्रायः चाहे जिससे प्रश्न कर देता "तुम अपने आप को पहचानते हो?" "तुम बता सकते हो, सत्य क्या है?" कोई सुनी अनसुनी कर जाता कोई झिड़क कर चल देता, कोई कुछ जबाब भी देता और कई तो उसकी सूरत देखकर रास्ता काट कर निकल जाते। यह फक्कड़, मस्तमौला कोई पागल नहीं था, यह था विश्व-विख्यात दार्शनिक सुकरात। हाँ! महर्षि सुकरात जिसने सत्य की साधना में, सत्य के प्रचार में और सत्य ज्ञान की शिक्षा देने में अपना जीवन लगा दिया। उसने सत्य प्रचार के लिए, अज्ञान और आडम्बर का नाश करने के लिए दर दर की ठोकरें खाईं, अपमान सहा, समाज की भर्त्सना सहन की, पत्नी के दुर्व्यवहारों को उपहार माना और अन्त तक सत्य के लिए जूझता रहा। वह कहता था "मैं अपना सम्पूर्ण जीवन तुम लोगों से बातचीत करने में बिता रहा हूँ इसलिए कि तुम अपनी आत्मा की पूर्णता को जानो और देह व धन की चिन्ता करना छोड़ दो; मैं तुम लोगों से यह कहने को आता हूँ

कि सद्‌गुण धन से नहीं प्राप्त होते वरन् धन और अन्य सब अच्छी बातें जिनका सामाजिक जीवन में सम्मान किया जाता है सद्‌गुणों से मिलते हैं।" "जब तक में साँस ले रहा हूँ और मुझ में शक्ति शेष है मैं दार्शनिक चिन्तन बन्द नहीं करूँगा—तुम लोगों से प्रत्येक से जिससे मैं मिलूँगा पूछूँगा कि सत्य क्या है, जैसा कि मेरा स्वभाव है मैं तुमसे कहूँगा, "मेरे अच्छे मित्र, तुम एथेन्स के नागरिक हो, वह नगर जो अपनी महानता और विद्वत्ता के कारण प्रसिद्ध है; क्या तुम्हें धन और इज्जत के लिए सारा समय नष्ट करते हुए लज्जा अनुभव नहीं होती! क्या तुम्हें ज्ञान, सत्य और आत्मा की पूर्णता के लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए! और यदि तुम कहोगे कि मैं उसके लिए चिन्ता करता हूँ तो इसी से मुझे सन्तोष नहीं होगा। मैं तुमसे पारस्परिक विवाद करूँगा और उसका सन्तोषजनक उत्तर चाहूँगा।" महात्मा सुकरात के हृदय में जनता में सत्य के प्रचार करने की, आत्मज्ञान की ओर मानव को उन्मुख करने की और ज्ञान का आलोक फैलाने की प्रबल आकांक्षा थी। उन्होंने न केवल एथेन्स की, न केवल यूनान की अपितु सम्पूर्ण विश्व की जनता को, मानव-मात्र को अपने चिन्तन के मधुर उपहार भेंट किये हैं। उनके जीवन और मृत्यु सम्बन्धी विचार, उनका आदर्श बलिदान आदि आज भी हमें प्रेरणा देते हैं और युग युगों तक देते रहेंगे।

इस महापुरुष के जीवन वृत्त के संबंध में पूरी जानकारी नहीं मिलती। सुकरात के मित्र 'क्रीटो' की बातचीत, सुकरात के सुविख्यात शिष्य दार्शनिक प्लेटो की रचनाओं से व उनके दूसरे प्रमुख शिष्य क्वेजोफोन के संस्मरणों से कुछ विवरण प्राप्त हो सका है। किन्तु जो भी विवरण प्राप्त है उससे ही इस महर्षि के जीवन की, उसके महान, उच्च विचारों की इतनी जानकारी प्राप्त होती है कि हम उसके महत्त्व को अच्छी तरह समझ जाते हैं।

सुकरात का जन्म एथेन्स में लगभग ४७० ईस्वी पूर्व हुआ था। उसके माता-पिता गरीब थे और किसी तरह परिश्रम करके अपना निर्वाह करते थे। उसके पिता सोफरोनिवस एक शिल्पकार थे और इसकी

माता फिनारेटी दाई का काम करती थीं। बचपन में ही दरिद्रता के शिक्षालय में सुकरात को कम आवश्यकताओं और आडम्बरहीनता की प्रयोगात्मक शिक्षा मिली। यह सच है कि विश्व के अनेकों देदीप्यमान रत्न गरीबी की अन्धकारपूर्ण खान से ही प्राप्त हुए हैं। जिनके नेत्र में वैभव-विलास की चकाचौंध बचपन से ही हो उन्हें सत्य का सात्विक प्रकाश उपलब्ध कठिनता से ही होता है।

सुकरात के जीवन के निर्माण में तत्कालीन परिस्थितियों ने काफी सहायता की। प्रायः देखा जाता है कि जब अज्ञान, दंभ, विवेकहीनता और पाखंड का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ जाता है तभी सुकरात जैसे क्रांतिकारी व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव होता है। सुकरात के समय यूनान की स्थिति ठीक नहीं थी। एक शब्द में वह संक्रांति काल था। राजनीतिक क्षेत्र में उथल-पुथल हो रही थी और विचारों के क्षेत्र में घोर अनिश्चितता व्याप्त हो रही थी। परस्पर विचारों में भारी मतभेद था। धार्मिक क्षेत्र में भी उथल-पुथल मची हुई थी। एक दल देवताओं के प्रति अंध श्रद्धा रखता था दूसरा दल उनकी खिल्ली उड़ाता था। प्रोटेगोरस ने कहा था—"देवताओं के बारे में हम कुछ भी नहीं जान सकते कि उनका अस्तित्व है या नहीं और उनका स्वरूप क्या है?"

राज्य की स्थिति भी बड़ी विचित्र थी अभी फारस के आक्रमण का प्रभाव मिट नहीं पाया था। लम्बे समय तक यूनान के पड़ौसी राज्यों—स्पार्टा, कोरिन्थ, थेन्स व अन्य—ने मिल कर एथेन्स के विरुद्ध युद्ध किया। उन्हें एथेन्स की बढ़ती हुई शक्ति और प्रभुत्व से अपने अस्तित्व का भय उत्पन्न हो गया था। इस लम्बे युद्ध में एथेन्स को भी भारी जन-धन की क्षति सहन करनी पड़ी। एथेन्स के गौरव और प्रभुत्व की नींव हिल गई। फलतः राज्य-व्यवस्था में भी परिवर्तन हुआ। ४१३ ई० पू० से ४०४ के अर्थात् नौ वर्ष में वहाँ के शासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पहले उच्चकुलतंत्र की स्थापना हुई फिर पुनः प्रजातन्त्र की स्थापना हुई लेकिन फिर भी प्रजातंत्र टिक न सका और राज्य-व्यवस्था "तीस-निरंकुशों" के हाथ में चली गई। इन तीस-निरंकुशों की निरंकुशता ने आठ महिनों

तक अपना नग्न तांडव किया। लोगों के भूमि और धन का अपहरण किया, न्याय का गला घोंट कर निर्दोष व्यक्तियों के प्राणदंड दिये गये किन्तु पुनः जनता के जनतांत्रिक विचारों में बल पाया और शनैः शनैः प्रजातंत्र की स्थापना हुई। यह प्रजातंत्र ८० वर्ष तक चला। इस राज्य-काल में और इसी प्रजातन्त्र के एक नेता द्वारा महात्मा सुकरात को अपराधी ठहराया गया और विश्व को सत्य का प्रकाश देने वाली वह ज्योति एक बार अपनी स्वर्गीय आभा विकीर्ण करके अनन्त में विलीन हो गई।

यूनान में व्यायाम और संगीत की शिक्षा का बड़ा महत्त्व था अतः सुकरात की भी शिक्षा इन्हीं से आरम्भ हुई। सुकरात ने इन सब को अच्छी तरह से सीख लिया। साथ उन्होंने भूमिति शास्त्र, तथा ज्योतिष-गणित का गहन अध्ययन किया। यह भी पता चलता है कि सुकरात ने अपना पैतृक व्यवसाय—संगतराशी का काम—भी सीखा था और इस कार्य में भी उन्होंने अपनी कुलशता दिखलाई थी।

बचपन से ही सुकरात को ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा थी, इस कारण उन्होंने कम उम्र में ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

सुकरात ने अपने देश के प्राचीन महाकाव्यों का रसास्वादन किया और दर्शन का तो शायद कोई भी ग्रन्थ इन्होंने बिना पढ़े छोड़ा था। इन्होंने युवावस्था में ही अनेक्सगोरस, हिराकीटस तथा ममेनीडस आदि प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिकों का अच्छा अध्ययन कर लिया था। भारतीय दर्शन की ओर आपका बहुत आकर्षण था। जब कोई यात्री भारत-यात्रा के लिए जाता तो आप उससे भारत के महात्माओं से मिल-कर उनका उपदेश लाने का आग्रह करते थे।

आरम्भ में सुकरात के परिवार की स्थिति साधारणतः अच्छी थी। उन्होंने अपनी प्रौढ़ावस्था में अपेक्षाकृत सम्पन्न परिवार की जोन्थिनी नामक लड़की से विवाह किया। परन्तु कुछ समय बाद आपकी आर्थिक स्थिति चिन्ताजनक हो गई। उनको विश्वास था कि मैं विश्व में अज्ञान और असत्य का नाश करने के लिए आया हूँ। सुकरात ने स्वयं अपने शिष्यों से कहा था कि उन्हें दैवी-ज्योति और आज्ञा प्राप्त हुई है। उन्हें

सुनाई पड़ा है—"सुकरात ! तू विश्व में केवल पेट भरने और विलास करने नहीं आया है। तेरा जन्म जगत के कल्याण के लिए हुआ है तथा संसार के लिए ही तू जीवेगा। तुझे संसार को उपदेश देकर आँख खोलने की आज्ञा होती है। उठ, और संसार की आँखें खोल।" सुकरात को इस दैवी वाणी पर पूरा विश्वास था। उन्होंने इसके लिए सब सुख छोड़ दिये और संसार को सत्य का उपदेश देने का निश्चय कर लिया। अब सुकरात शिक्षार्थी नहीं स्वयं शिक्षक थे।

सुकरात के अध्ययन और सत्य ज्ञान-प्रचार की उत्कंठा देखकर हम कल्पना कर सकते कि उसने रात दिन बड़े-बड़े ग्रंथों के अध्ययन में बिता दिये होंगे, जब संसार सुख की नींद में सो जाता होगा तब वह अपने अध्ययन कक्ष में बैठा अपने ज्ञान को कागजों में लिपि बद्ध करता होगा, उसके लेखों को पढ़ कर बड़े-बड़े विद्वान लोग उसकी प्रतिभा का लोहा मानते होंगे या जब वह विराट जन-समूह के बीच अपने ज्ञान-सागर से निकाल-निकाल कर अनमोल रत्न बिखेरता होगा तो लोग चकित होकर देखते रह जाते होंगे। लेकिन महर्षि सुकरात के विषय में ये बातें सत्य नहीं हैं। हाँ उसके समय यूरीपिडीन के समान विद्वानों के पास विशाल पुस्तकालय थे। उसके परवर्त्ती विद्वानों—प्लेटो, अरिस्टाटल, एपीक्यूरस स्टॉइक आदि के अपने पुस्तकालय थे। परन्तु सुकरात का क्षेत्र एक कक्षा में सीमित न था। वह तो घूम घूम कर एथेन्स के जन-जन के पास जाता और ज्ञान की पावन सरिता प्रवाहित किया करता था। वह प्रायः बाजार में, व्यायामशाला में, मेले में अथवा किसी मित्र के घर बातें करते हुए पाया जाता था। संध्या समय जब सुकरात एथेन्स के बन्दरगाह पर लगने वाले मेले से लौटता तब अनेक महत्त्वपूर्ण संवाद होते थे। वह साधारण से साधारण आदमी से भी चर्चा करते समय आनन्द का अनुभव करता था।

दार्शनिक चर्चा करने का उसका ढंग भी बड़ा विचित्र था। वह कभी सीधे ढंग से अपनी बात नहीं करता। वह व्यक्तिगत बात करता और लोगों से प्रश्न पूछता था। दिन भर वह एथेन्स नगर में घूमा करता।

प्रत्येक एथेन्स वासी को वह पहचानता था। उसके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक खबरें शीघ्र फैल जाती।

सुकरात का व्यंग्य प्रसिद्ध है। वह हर एक आदमी का मजाक उड़ाता, सीधा व्यंग्य करता जो मन में गहरा घाव करता था। उसके तर्क तो इतने जोरदार होते थे फिर अच्छे-अच्छे विद्वानों को निरुत्तर होकर बगलें झाँकना पड़ता था। वह सबसे पहले अपनी अज्ञानता स्वीकार कर लेता था। वह साफ कह देता कि "मैं कुछ नहीं जानता, आप से केवल पूछ रहा हूँ।" उसके चंगुल से बच निकलना सरल नहीं था। किसी के दिल से बात निकाल लेना उसके लिए बिल्कुल सरल काम था। लेकिन सुकरात किसी हीन भावना के वशीभूत होकर व्यंग्य नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि लोगों की जड़ बुद्धि को ठिकाने लाने का, लोगों के हृदय में पीढ़ियों से घर किये बैठी मिथ्या धारणाओं के निष्कासन और सत्य-निर्णय पर पहुँचने में सहायता पहुँचाने का यही श्रेष्ठ उपाय है। उसका कथन था कि ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को देता हो वरन् वह स्वयं व्यक्ति में अन्तर्निहित होता है जिसका बिना सहायता के प्रकटीकरण बहुत कम लोगों में होता है। प्रश्नकर्त्ता तो एक दाई का काम करता है। उसके औजार प्रश्न और उत्तर हैं। वह आत्मा की प्रसव वेदना का दर्शक है जो सत्य को जन्म देती है दाई का लड़का दाई का ही काम करता था। इस प्रकार प्रश्नों द्वारा ही वह धर्म और अधर्म, सौन्दर्य और वीभत्सता, जीवन और मृत्यु, न्याय और अन्याय, विवेक और अविवेक, साहस और कायरता, तथा अन्य अनेक विषयों पर, जिनका ज्ञान एक भले मनुष्य के लिए अपेक्षित होता है, बात-चीत किया करता था। इस प्रकार अज्ञान को दूर करने और सत्य का प्रचार करने में सुकरात मृत्यु के अन्तिम क्षण तक लगा रहा। धीरे-धीरे उसकी बातों पर लोगों ने ध्यान देना आरम्भ किया।

जब सुकरात बाजार में घूमा करता तो उसके साथ कई लोग लगे रहते थे लेकिन सब का उद्देश्य एक नहीं होता या। प्रायः उसके साथ रहने वाले लोग तीन प्रकार के थे—

(१) वे लोग जो वकालत या मंत्रणा परिषद् में अपनी वक्तृत्व शक्ति की धाक जमाना चाहते थे। वे सुकरात के तर्क, व्यंग्य और प्रत्युत्पन्नमति का प्रसाद पाने के लिए साथ लगे रहते।

(२) कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्हें न तो वकालात से काम था, न मंत्रणा-परिषद् के वाक-युद्ध से और न किसी धार्मिक पचड़े से। वे तो सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने के इच्छुक थे। उन्हें सुकरात के गहन-गहन दार्शनिक विचारों, राजनीतिक और साहित्यक चर्चाओं की कोई चिन्ता नहीं थी; वे सदा सदाचार के उपदेश ग्रहण करने के लिए अपने गुरू के साथ लगे रहते थे।

(३) तीसरे प्रकार के शिष्य वे थे जो सुकरात की महानता से परिचित थे। उसके विचारों पर आस्था रखते थे और उनका मनन करते थे। वे सुकरात को हृदय से मानते थे। उन्होंने ही वास्तव में सुकरात को सब से अधिक समझा और विश्व को उसके महान् सन्देश से अवगत कराया। इस श्रेणी में विश्व का विख्यात विचारक, दर्शनिक प्लेटो का नाम उल्लेखनीय है जिसने अपने गुरू से भी अधिक नाम पाया और सुकरात के जीवन के अधिकांश सामग्री प्रदान करने का श्रेय इसी को है।

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि उस समय सर्वत्र सुकरात की पूजा होती रही होगी। वास्तव में महापुरुषों को उनकी समकालीन जनता भली प्रकार नहीं पहचान पाती है, वही दशा सुकरात की थी। उस के घर में पत्नी तक उसकी बातों को एक पागल के प्रलाप से अधिक महत्त्व नहीं देती थी। सुकरात की पत्नी की अप्रसन्नता का कारण परिवार को गरीबी अधिक थी। सुकरात तो दिन भर दैवी ज्योति का प्रकाश विकीर्ण करता और घर में रात को एक टिमटिमाता दीया भी नहीं होता। वह दुनिया को ज्ञान-दान करता और घर में उनके लड़के अशिक्षित ही रह गये। वह आध्यात्मिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक सभी समस्याओं को सुलझाता, उन पर गंभीर मनन करता परन्तु उसने घर की, परिवार की समस्या की ओर शायद आँख उठा कर देखा तक नहीं। इसी लिए सुकरात के सम्बन्ध में एक समकालीन हास्य रस के कवि ने लिखा

था—"मैं सुकरात से घृणा करता हूँ क्योंकि उसने अन्य सभी समस्याओं पर सोचा है, परन्तु अपने लिए भोजन जुटाने की समस्या को छुआ भी नहीं है।" जिसे ज्ञान देने की व्यग्रता हो, जिसने मानव मात्र को सुखी बनाने का, हर एक मनुष्य को आत्म-परीक्षण की ओर प्रवृत्त करने का निश्चय कर लिया हो वह भला घर में ही केन्द्रित कैसे रह सकता था? परिणाम यह हुआ कि उसकी भावुक पत्नी चिड़चिड़ी हो गई। घर में कलह ने घर कर लिया। जब सुकरात काफी रात गये घर लौटते तो कई बार द्वार तक आकर वापिस लौट जाते, कई बार उसकी पत्नी द्वार नहीं खोलती और उसे रात बाहर ही बितानी पड़ती। कभी कभी तो देरी से आने पर पत्नी ठंडे पानी का घड़ा उस पर उँड़ेल देती। हर समय घर में अशान्ति का वातावरण छाया रहता परन्तु यह विद्वान, जो कि बाहर अच्छे अच्छे विद्वानों की जबान बन्द कर देता था, जिसके तर्क के आगे प्रतिभावान् भी झुकते थे घर में सब कुछ सहन कर लेता था। सुकरात की प्रकृति बहुत शान्त थी।

इतना होने पर भी सुकरात के नाम को चमकाने वाला कोई पुत्र निकल जाता तो ही ठीक था। परन्तु जैसा कहा गया है कि वे महामूर्ख थे। सुकरात के तीन पुत्र हुए परन्तु तीनों ही एक से एक बढ़ कर आवारा और अयोग्य। कजेनोफोन नामक सुकरात के एक प्रधान शिष्य ने 'मेमोरेब्लिया' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि एक पुत्र लम्प्रोकलीज को एक बार अपनी माता के साथ असभ्यता का व्यवहार करने के कारण बहुत फटकारा गया था।

सार्वजनिक जीवन में भी इनके कई शत्रु थे। परन्तु ये कभी उद्विग्न नहीं हुए।

सुकरात केवल विचारक और शिक्षक ही नहीं थे। वे सच्चे वीर और देशभक्त भी थे। ये पोटीडिया की लड़ाई में गये थे। चालीस वर्ष की उम्र में युद्ध की सारी कठिनाइयों को झेलते हुए इन्होंने देश के लिए प्राणों की भी चिन्ता नहीं की। कड़ाके की ठंड में ये अपने स्थान से जौ भर नहीं डिगे और सजग हो कर आज्ञा का पालन करते रहे। अवकाश

के समय भी ये आराम नहीं करते वरन् अन्य घायलों की सेवा सुश्रुषा में अपनी थकान को भुला देते थे।

इन्हीं दिनों देकियम में एक छोटा सा युद्ध हुआ। उस समय इन्होंने अपने साथी आलसी बांइडो के प्राणों की रक्षा की और विजय भी प्राप्त की। किन्तु विजय का सारा श्रेय अपने मित्र को दे दिया। यह था सुकरात का महान् त्याग।

कुछ दिनों बाद एम्फीपोलिस का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। इसमें एथेन्स वासियों को हार खानी पड़ी। सारी सेना में भगदड़ मच गई। जब सिर पर मौत का भयानक पंजा रखा हुआ था तब भी वीर सुकरात नंगी तलवार उठाये धीरे-धीरे पीछे लौटे। यह देख कर इनके साथी ने कहा—

"यदि सुकरात ऐसे सब होते तो हम बिना जीते कदापि न लौटते।"

देश प्रेम इनमें कूट-कूट कर भरा था। जब इनके शिष्यों ने शत्रुओं की संख्या बढ़ते देख कर इनसे शहर छोड़ने की प्रार्थना की तो ये अपनी मातृभूमि छोड़ कर कहीं जाने के लिए राजी नहीं हुए और अन्तिम क्षण तक वहीं रहे।

सुकरात के समर्थकों की भी कमी नहीं थी। यदि ये चाहते तो ऊँचा राजनीतिक पद प्राप्त कर सकते थे किन्तु उन्होंने शिक्षा प्रचार के मार्ग में आने वाले हर रोड़े को, हर प्रलोभन को ठोकर मारी। उन्होंने कहा—"इनसे मेरी आजादी जाती रहेगी। मैं अपनी दैवी ज्योति की आज्ञा का पालन न कर सकूँगा। मैं आजादी के साथ सबसे बात न कर सकूँगा। ये सब बन्धन मुझे स्वीकार नहीं।"

एक बार ये न जाने कैसे मंत्रणा-परिषद् की महासभा के सदस्य हो गये थे। चाहे मित्रों का आग्रह रहा हो या जनता की इच्छा। उस समय उनके सामने आठ सेनापतियों का मामला आया। उनका अपराध यह था कि आर्गिनिसी के युद्ध में वे भयकर जन-हानि और तूफान के कारण लाशों का पता नहीं रख सके जिससे उनका अन्तिम संस्कार होता। इससे प्रजा को बड़ा रोष था। प्रजा चाहती थी कि उन्हें अविलम्ब दन्ड दिया जाय। मंत्रणा परिषद महासभा ने तय किया कि आठों पर एक साथ

मुकदमा चलाकर दण्ड दिया जाय। सदस्यों को भय था कि अलग अलग मत लेने में कोई छूट न जाय। जिस दिन आठों सरदारों के दन्ड का प्रश्न महासभा के सन्मुख उपस्थित हुआ उस दिन दैवयोग से सुकरात ही प्रधान (अपिस्ता) थे। वे जानते थे कि यह सरासर न्याय का गला घोंटना है। मेम्बर जानते थे कि सुकरात अपने निश्चय से डिगने वाला व्यक्ति नहीं है। उसे मार डालने की धमकी दी गई। परन्तु उसने अन्याय करने से साफ इन्कार कर दिया। आखिर दूसरे दिन दूसरे प्रधान के समय वह प्रस्ताव पेश हुआ और सरदारों को प्राण-दंड की आज्ञा मिली। इस प्रकार सुकरात की न्यायप्रियता और तत्कालीन शासकों के अत्याचार की जानकारी मिलती है।

वास्तव में सुकरात भौतिक शास्त्र, ज्योतिष, दर्शन, राजनीति, धर्म आदि अनेकों विषयों के पंडित थे परन्तु वास्तविक रूप में शिक्षक थे जो अज्ञान को दूर कर ज्ञान की, सत्य की शिक्षा देते थे। यह सत्य की शोध और प्रचार का सौदा सरल नहीं था वह तो प्राण देकर ही किया जा सकता था, अतः सुकरात ने भी अपने प्राण देकर यह सौदा किया। उन पर मुकद्दमा चलाया गया उन पर सामान्य दोषारोपण किये गये जिसके शब्द ये हैं—"सुकरात का यह अपराध है कि वह उन देवताओं में विश्वास नहीं रखता जिनमें एथेन्स का राज्य विश्वास करता है और उसने अनेक आश्चर्यपूर्ण देवताओं की उद्भावना की है और वह नवयुवकों को भी बिगाड़ने का अपराधी है। इसका दन्ड—मृत्यु।" परन्तु इन दोषों मे यथार्थता नहीं थी। सुकरात आस्तिक था। उसका ईश्वर में दृढ़ विश्वास था। वह यूनान के देवताओं में भी विश्वास करता था और अपने घर में धार्मिक रस्मों का पालन भी करता था। हाँ यह बात अवश्य थी वह धार्मिक मान्यताओं में संकुचित धारणा नहीं रखता था और सामान्य यूनानियों के समान नहीं सोचता था। यह उसका विचार स्वातंत्र्य था जो कि उसका नैतिक अधिकार था, साथ ही जो एक दार्शनिक के लिए अनिवार्य गुण है। वह 'होमर' और 'हीरियड' के ग्रन्थों से प्रजातंत्र तथा नैतिक विचार के विरुद्ध विचारों को पढ़ कर सुनाया करता

था और नवयुवकों को माता-पिता के विचारों और मान्यताओं का अन्धानुकरण नहीं करने की सलाह देता था। बस यही उसका अपराध था और इसकी सजा थी मौत !!!

विचार करने पर ज्ञात हो जाता है कि ये अपराध कितने सामान्य और अनुचित हैं। परन्तु सुकरात जिन परिस्थितियों में था, उस समय एथेन्स की जो सामाजिक और राजनीतिक स्थिति थी उसमें उसका विचार स्वातंत्र्य शासकों को अनुचित ही दिखा। जब एथेन्स राज्य विदेशी राज्यों की सेना से एक लम्बे युद्ध में संलग्न था उस समय जीवन के माने हुए मूल्यों और आस्थाओं को सुकरात जैसे व्यक्ति द्वारा जड़-मूल से हिलाना और राज्य की संस्थाओं के प्रति घृणा फैलाने वाले अधिकारियों को कैसे अच्छा लग सकता था? अभी प्रजातंत्र की स्थापना हुए चार वर्ष ही हुए थे और जनता 'तीस निरंकुशों' के शासन की पाशविकता को भूली नहीं थी। क्रिटियल और आलसी बिडीज का सुकरात के साथ निकट का सम्बन्ध था। अतः मेलेटस और उसके दो साथी लाइकोन तथा एनाइटस ने सुकरात पर दोषारोपण किया तथा उनका प्रतिवादी था ७० वर्ष का वृद्ध सुकरात।

यह अभियोग ३९९ ई० पू० एथेन्स के एक न्यायालय में चलाया गया। सुकरात ने अपने दोषों को स्वीकार कर लिया और बतलाया कि उसके विचार गलत नहीं हैं। बीच-बीच में श्रोतागण, विपक्षी तरह-तरह के दोषपूर्ण नारे लगाते परन्तु वह अविचल और शान्त रहा। उस न्यायालय में ५०१ न्याय-सदस्य उपस्थित थे। जब मत लिए गये तो सुकरात के पक्ष में २२० और विपक्ष में २८१ मत मिले अर्थात् केवल ६१ मत विरुद्ध थे परन्तु सुकरात को अपने पक्ष में इतने मत भी मिलने की आशा नहीं थी। दंडविधान के अनुसार अपेक्षाकृत सरल माँगने का अधिकार था। वह चाहता तो अपने परिवार की स्थिति बतलाकर प्राणों की भीख माँग सकता था, उसके साथी अर्थ दंड देने के लिए तैयार थे और यदि वह एथेन्स नगर छोड़ देता तो भी उसको क्षमा मिल सकती थी परन्तु उसे यह स्वीकार नहीं था। उसने जीवन भर जन हित किया था अतः

गर्व से उसने कहा कि वह अपराधी नहीं है, अतः वह अपने लिए दंड विधान नहीं कर सकता। उसने कहा कि राज्य के विशेष सम्मानित व्यक्तियों और कतिपय हित चिन्तकों की तरह उसे जन-कोष से मृत्यु दंड दिये जाने तक व्यय मिलना चाहिए। वह तो वीर था, स्वाभिमानी था, राष्ट्रभक्त था उसे प्राणों का क्या मोह ? उसने गौरव पूर्ण शब्दों में कहा—"मेरे न्यायाधीशो, तुम अपनी भी मृत्यु का हिम्मत के साथ सामना करना और इस सत्य में विश्वास रखना कि सच्चे मनुष्य का इस जन्म में या उसकी मृत्यु के बाद कभी अहित नहीं हो सकता। ईश्वर कभी उसकी सच्चाई का पुरस्कार दिये बिना नहीं रहेगा। आज मुझे जो मृत्यु-दंड दिया गया है वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। अतः जिन्होंने मुझ पर दोषारोपण किया है या मुझे मृत्यु-दंड दिया है उनके प्रति मेरे हृदय में तनिक भी क्षोभ नहीं है। अब वह घड़ी आ गई है कि हम अपने आगे का कार्य आरम्भ करें, मैं मरने के लिए जा रहा हूँ और आप लोग जीवन-व्यापार में लगें। जीवन श्रेयस्कर है या मृत्यु यह तो केवल ईश्वर और केवल मात्र ईश्वर जानता है।" इस प्रकार साहसपूर्वक बलिदान देने का, न्याय और सत्य के लिए प्राणोत्सर्ग करने का अन्य उदाहरण विश्व के इतिहास में सरलता से नहीं मिल सकता। मृत्यु के पथ पर अग्रसर होते हुए उसने अपने विरोधियों से कहा—"यदि मेरे लड़के श्रेयष्कर जीवन व्यतीत न करें और धन व ऐश्वर्यपूर्ण जीवन की इच्छा रखें तो उन्हें उसी प्रकार शान्तिपूर्वक मत रहने देना जैसे कि मैंने तुम्हें नहीं रहने दिया है।" एक पिता के हृदय की कमजोरी इस महा-मानव को छू तक नहीं गई थी।

मृत्यु के पूर्व सुकरात के एक मित्र क्राटो ने सुकरात के मुक्त करने की सारी व्यवस्था जमा ली किन्तु वह सत्य और न्याय का पुजारी क्योंकर मृत्यु से डरता, वह देशभक्त क्यों देश के नियम को तोड़ता ? उसने अपने मित्र की योजनाओं पर पानी फेर दिया और भाग निकलने से साफ इंकार कर दिया।

मृत्यु की भयानक छाया प्रति पल अपना विकराल पंजा फैलाए बढ़ी

आ रही थी परन्तु सुकरात मुस्करा रहा था। जब उसकी स्त्री रोने-कलपने लगी तो उसने उसे घर भिजवा दिया और मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगा। निदान वह समय भी आ गया। प्राणघातक विष का चषक लाया गया सुकरात के मुख-मंडल पर आलौकिक प्रकाश छा गया, वह प्रसन्न था, शान्त था, उसने सारे प्याले को खाली कर दिया और अन्तिम समय तक अपने शिष्यों को प्रेरणाप्रद शिक्षा देता रहा। सुकरात का मिट्टी का शरीर तो मिट्टी में मिल गया लेकिन सुकरात का नाम अमर हो गया।

३ : स्वतंत्रता की देवी—जोन

"मैं स्वदेश को दासता से मुक्त करूँगी। पराधीन देश में वैवाहिक जीवन तथा आमोद-प्रमोद की बात सोचना अपराध है।" बलिदान की देवी जोन ने इन स्पष्ट शब्दों में अपने माता-पिता को अपना निश्चय बता दिया जो कि उसका विवाह करने के लिए उत्सुक थे। यह पन्द्रहवीं शताब्दी का आरंभिक काल था। देवी जोन की मातृ भूमि का भविष्य अन्धकार मय दिखाई दे रहा था। उद्धत अंग्रेज पंचम हेनरी के इशारों पर जहाँ तहाँ उपद्रव मचा रहे थे। स्वतन्त्रता प्रेमी फ्रांसीसी जनता भावी अनिष्ट की आशंका से व्यग्र हो उठी जहाँ तहाँ देश की रक्षा के लिए वीर कटि बद्ध होने लगे परन्तु दुर्भाग्य से देश में ही देश द्रोहियों की संख्या बढ़ने लगी। इस प्रकार फ्रांस के भाग्य-पटल पर प्रश्न वाचक चिह्न लगा था। ऐसे समय जोन, जो कि मातृ भूमि की स्वतंत्रता के लिए प्राणोत्सर्ग कर देना चाहती थी, वैवाहिक जीवन के मधुर बंधन, आनन्द और भोग-विलास को कैसे स्वीकार कर सकती थी? इस समय फ्रांस का ही एक जमींदार राज्य भक्ति को बलि देकर देश द्रोह करके राजा बन बैठा था। फ्रांस का एक बड़ा हिस्सा उसके अधिकार में चला गया था। देश-द्रोहियों की इस बढ़ती हुई संख्या के कारण फ्रांस को विदेशियों के सामने घुटने टेकने पड़े और फ्रांस का अधिपति चार्ल्स अपने प्राणों की रक्षा के लिए जंगलों में भटकने लगा।

जन्म और बचपन

ऐसे वातावरण में देवी जोन का जन्म दिव्य उत्साह की मूर्ति के रूप में हुआ। इनका जन्म लारेंस प्रांत के डुमरिम नामक छोटे से ग्राम

में ६ जनवरी सन् १४१२ ई० को हुआ था। उसके पिता का नाम था जोवेयस आर्थ और माता का इसावेला था। इसका पिता एक साधारण कृषक था और जोन की माता भी कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ उसके पति को सहयोग देती थी। इसाबेला धार्मिक विचारों वाली और सरल स्वभाव की स्त्री थी। जोन के माता-पिता के पवित्र और सरल जीवन के कारण बचपन से ही उसमें दैवी विचारों का स्रोत बहने लगा। जोन के तीन भाई और एक बहन थी। जोन सबसे छोटी थी। माता-पिता के शुचिदुलार ने उसको ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना सिखाई। ग्रामीण वातावरण ने उसके सरल जीवन में और भी विस्तार कर दिया। वह अपने माता-पिता के साथ खेतों में जाती, उनको सहायता करती। कोहरे में फिसलती रवि-रश्मियों को देखा करती और मन्द वायु में लहलहाते खेतों को देखने में वह अपने आप को भूल जाती थी। वह गगन चुम्बी शैल-मालाओं को देख कर कल्पना करती कि अवश्य ही ये भगवान् से गुप-चुप बातें करते हैं। बचपन में ही उसने बाइबिल का उपदेश अपनी माता के मुख से सुना और महापुरुषों की आदर्श जीवनियाँ सुनने में आनन्द लेने लगी।

जोन स्वभाव से ही कोमलहृदया थी। वह बचपन से ही सरल और पवित्र जीवन व्यतीत करती थी। एक बार विदेशियों ने उसके गाँव डुम-रिम पर आक्रमण किया। उनके भय से सभी ग्रामीण जंगल में भाग गये। विदेशी सैनिकों ने खुलकर लूट-पाट की, अनेकों मकान जला दिये और गिरजाघर के पवित्र स्थान भी उनकी दुष्टता से नहीं बचे, उन्होंने गिरजा-घर में भी आग लगा दी। ग्रामवासियों के साथ जब जोन ने लौटकर यह नृशंस कार्य देखा तो उसके बाल हृदय पर बहुत आघात पहुँचा। उसे विदेशियों से घृणा हो गई।

जोन की इच्छा स्वदेश को मुक्त करने की थी अतः उसने कौमार व्रत लिया। इस मार्ग में उसे काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके माता-पिता नाराज हो गये किन्तु वह अपने निश्चय से नहीं डिगी। कई युवकों ने विवाह के प्रस्ताव किये परन्तु उसने सब अस्वीकार कर दिये।

एक युवक ने तो यहाँ तक धृष्टता की कि उसने 'टौल' के धर्म-विचारालय में जोन के विरुद्ध शिकायत की जिसमें उसने कहा कि जोन ने मुझ से विवाह करने का वायदा किया था और अब वह अपने वायदे को पूरा नहीं करती है।" जोन जैसी सात्विक वृत्ति वाली, सरल और शान्तिप्रिय लड़की इसका प्रतिवाद भी कर सकेगी, इसमें भी लोगों को शंका थी किन्तु जोन ने धर्म विचारालय में अपूर्व साहस और आत्मविश्वास के साथ प्रतिवाद करते हुए कहा—"मेरे विरुद्ध जो अभियोग चलाया गया है वह बिलकुल झूठ और बनावटी है। मैंने कभी किसी के साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा नहीं की।" जोन की सच्चरित्रता पर विश्वा स करके अधिकारियों ने इस अभियोग से उसे बरी कर दिया।

दिव्य प्रकाश

जोन के बाल हृदय पर बर्बर विदेशियों के अत्याचारों का गहरा प्रभाव पड़ चुका था। वह रात दिन चिन्ता किया करती थी कि किस प्रकार मातृभूमि का उद्धार किया जाय। एक दिन इसी प्रकार चिन्तामग्न होकर वह अपने पिता के उपवन में टहल रही थी। जब वह अपने निजी गिरजाघर की ओर मुड़ी, उसके संमुख एक दिव्य आलोक राशि प्रकट हुई और उस प्रकाश में सुनाई दिया—"जोन! उठ और उस कार्य में लग, जिसके लिए तेरा जन्म हुआ है। स्वदेश की स्वाधीनता का मार्ग तू प्रशस्त कर सकेगी। अपने राजकुमार के पास जा! मातृभूमि तुझे युद्ध-क्षेत्र में पुकार रही है।" पहले तो भयभीत हो गई लेकिन शीघ्र ही उसने अपने हृदय में अपूर्व शक्ति का अनुभव किया। उसे सुनाई पड़ा "जोन! तू पवित्र चरित्र रह और भगवान पर भरोसा कर।" इस समय जोन की आयु १५ वर्ष की थी। इस घटना के बाद दो स्वर्गीय दूत प्रकट हुए उन्होंने कहा "जोन, डफरिन की सहायता के लिए युद्ध में प्रवृत्त हो और पतित स्वदेश का उद्धार कर।" "मैं अबला हूँ। किस प्रकार युद्ध किया जाता है, यह मुझे नहीं मालूम।" दूत ने आश्वासन देते हुए कहा—"केथेरिन और मार्गरेट तुम्हारी सहायता करेंगी।" इस पर उसने घुटने

टेके और पृथ्वी पर मस्तक रखा, उसके नेत्रों में हर्षाश्रु भर आये और उसने कहा "मेरे प्रभु तेरी आज्ञा स्वीकार है।"

धीरे-धीरे इस घटना की सूचना माता पिता को मिली। माता तो स्वभाव से ही भावुक थी अतः उसने इस बात पर विश्वास कर लिया किन्तु पिता ने कर्कश स्वर में जोन को डराते हुए कहा—"यदि मैं फिर कभी तेरे मुँह से यह बात सुनूँगा तो मार डालूँगा।" अब जोन के सम्मुख कर्त्तव्य और पितृ-भक्ति का संघर्ष उपस्थित हो गया किन्तु शीघ्र ही उसने निश्चय कर लिया कि वह स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए अपने पिता की आज्ञा की परवाह नहीं करेगी। प्रकट रूप से तो उसने पिता की आज्ञा मान ली परन्तु शीघ्र ही उसने अपने उद्देश्य की सिद्धि का मार्ग खोज लिया। उसकी चाची अस्वस्थ थी अतः उसकी सेवा सुश्रुषा का बहाना लेकर वह घर से चल दी। उसके बूढ़े चाचा लेक्जर्ट ने उसकी काफी सहायता की। वह अपनी भतीजी का सन्देश लेकर बेकुलियर्स के शासन· कर्त्ता वोड्रीकोर्ट के पास गया किन्तु उसे निराश ही लौटना पड़ा। इस पर जोन स्वयं उसके पास पहुँची। वोड्रीकोर्ट ने उससे प्रश्न किया—"तुम किसलिए मिलना चाहती थी?" जोन ने कहा "भगवान की इच्छा है कि राजा धर्मयुद्ध में पीछे न हटे। शत्रु पक्ष के प्रबल होने पर भी उसे राज्य मिल जायगा। रीम्स नगर के राजा का राज्याभिषेक-उत्सव संपन्न करने के लिए ईश्वर ने मुझे आदेश दिया है"

जोन के शब्दों से हाकिम काफी प्रभावित हुआ; उसने सब बातें ड्यूक ऑफ लोरेन को लिख भेजी और जोन को भी भेज दिया। ड्यूक ने पहले तो कुछ सन्देह किया फिर उसे चीनन नगर में बुलाया गया; वहाँ प्रजा के समस्त धार्मिक विद्वान एकत्र किये गये थे। विद्वानों की सभा ने उसे सत्य प्रमाणित किया। जोन ने निर्भीकता से उनके एक-एक प्रश्न का उत्तर दिया और इस प्रकार वह ईश्वरीय सन्देशवाहिका घोषित की गई।

जोन युद्ध में—इस प्रकार इस सभा का अनुकूल निर्णय पाकर राजा ने घोषणा प्रसारित की कि 'जोन ऑफ आर्क' को फ्रान्स की मुक्ति के लिए ईश्वरीय सन्देश प्राप्त हुआ है। इस घोषणा से फ्रांस में हर्ष की लहर

दौड़ गई। अनेक युद्ध विद्या-विशारदों ने जोन को शस्त्र-विद्या सिखाना आरम्भ किया। वह योरोप में पहली स्त्री थी, जिसने सैनिक शिक्षा प्राप्त की और सैनिक वेश में घोड़े पर बैठ कर, हाथ में नंगी तलवार लेकर रणभूमि में सेना का नेतृत्व किया हो। जोन थोड़े ही समय में युद्ध-विद्या में निपुण हो गई। वह एक काले घोड़े पर बैठ कर ब्लोइल नगर की ओर रवाना हुई। अपार जन-समूह इस स्वाधीनता की देवी के दर्शन करने और स्वागत करने उमड़ पड़ा। सारा फ्रांस जो पराजय का विष-पान करके बेसुध पड़ा था फिर से जाग उठा।

जोन का प्रथम आक्रमण अरलिंस नगर पर हुआ। उसने इस नगर के उद्धार के लिए पहली रण-यात्रा की। जोन ने नगर में प्रवेश किया तो अंग्रेजों ने उपेक्षा की और उसे जाने दिया। उसने सारे नगर में भ्रमण किया और फिर प्रार्थना की इसके बाद उसने एक सन्देश वाहक के द्वारा एक पत्र भेज कर अंग्रेजों को सलाह दी कि आप लोग फ्रांस छोड़ कर चले जावें, इस पत्र को पाकर अंग्रेजों में काफी उत्तेजना फैली। सन्देशवाहक के साथ दुर्व्यवहार किया गया और उसे जेलखाने में बन्द कर दिया। अन्तिम चेतावनी के रूप में जोन ने किले पर चढ़ कर अंग्रेजों से लौट जाने को कहा किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। अन्त में युद्ध के सिवा कोई उपाय नहीं बचा। एक दिन अंग्रेजों की नई कुमुक (सहायक टुकड़ी) आने वाली थी अतएव जोन ने सेनापति डूनियम से कहा कि उसके आने पर सूचना देना और वह थकी होने के कारण सो गई। डूनियम ने सेन्टलुप के किले पर आक्रमण किया। अंग्रेजों की शक्ति बढ़ गई थी और फ्रांसीसियों की सेना-संचालिका सो रही थी। अचानक जोन उठ बैठी और बोली 'रण-क्षेत्र में मेरी आवश्यकता है।' उसके जाने से ही भयभीत फ्रांसीसी सेना के पैर जम गये। भीषण युद्ध के बाद अंग्रेजी सेना के पैर उखड़ गये। दूसरे दिन जोन ने अंग्रेजों के दूसरे किले पर आक्रमण किया। अंग्रेजों ने डट कर लोहा लिया किन्तु फ्रांसीसी सेना भी डटी रही। जोन किले में प्रवेश करने की इच्छा से किले की दीवार पर चढ़ गई। इसी समय उसकी गर्दन पर तीर आ कर लगा और वह किले की खाई में

गिर गई। अंग्रेज उसे पकड़ने दौड़े पर फ्रांसीसी सेना उन्हें रोके रही। जोन ने मरहम पट्टी करने के बाद पुनः सैन्य-संचालन का कार्य आरम्भ किया। सेनापति ने उसे क्षेत्र छोड़ने की सलाह दी पर उसने यह मानने से इन्कार कर दिया। उसके साहस से फ्रांसीसी सेना में दूने उत्साह और बलिदान की भावना जाग्रत हो गई। अंग्रेजों को मुँह की खानी पड़ी। अंग्रेजी सेनापति ग्लेस्डेल अपनी सेना सहित पुल पर से भागा जा रहा था, उसी समय एक गोला लगने से पुल टूट गया और सेना के साथ वह गिर कर मर गया। इस करुण दृश्य को देख कर जोन के हृदय में बड़ी दया आई और वह आँसू नहीं रोक सकी। निराश अंग्रेज परास्त हुए और विजय लक्ष्मी ने जोन के चरणों में सिर झुकाया। सर्वत्र जोन की वीरता और कौशल की प्रशंसा होने लगी, परन्तु जोन ने यह सब ईश्वर की ही महान् कृपा बताई।

आरलिंस की विजय करके जोन सम्राट् से मिलने टूर्स नगर को गई। सम्राट् ने जोन की अभ्यर्थना की। जोन ने वीरता का प्रमाण पत्र लेने से इन्कार कर दिया। फिर काफी अनुनय-विनय के पश्चात् उसने अपना मत बदला। जार्गो, वर्गोली का किला और पटे नामक स्थानों पर शत्रुओं का गर्व खर्व करती हुई जोन रीम्स जा पहुँची। १६ जुलाई १४२६ ई० को डफिन अपनी सेना सहित रीम्स पहुँच गया। वहाँ बड़ी धूमधाम से उसका राज्याभिषेक हुआ और उसका नाम चार्ल्स सप्तम रखा गया।

जोन की वीरता की धाक सर्वत्र जम गई थी। जिधर वह जाती थी उधर ही शत्रु सेना में तहलका मच जाता था। इसके साथ ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता धर्मयुद्ध की भावना थी। योरोप में ऐसा भव्य उदाहरण सबसे पहले जोन ने ही प्रस्तुत किया था। उसने अपनी सेना को सूचना दे रखी थी कि किसी भी स्थिति में घायल, निशस्त्र और भागते हुए शत्रु पर आक्रमण न किया जाय। इस प्रकार का निस्सहाय शत्रु उसकी दृष्टि में क्षम्य था। जोन के सिपाही उसे माता मानते थे किन्तु जब वह आहत शत्रु की सेवा सुश्रुषा करती, मरहम पट्टी करती तो शत्रु भी आँखों में पानी भर कर कहने लगता "जोन तुम सचमुच देवी हो।" जनता इस

देवी के हाथ चूमने के लिए उमड़ पड़ती परन्तु जोन ने सदैव इस सम्मान से दूर रहने का प्रयत्न किया क्योंकि वह तो केवल ईश्वरीय आदेश का पालन कर रही थी।

परिवर्तन

जोन का कार्य तो राज्याभिषेक के साथ ही पूरा हो गया था अतः उसने राजा से प्रार्थना की कि उसे अब अपने माता-पिता के साथ गाँव में रहने की आज्ञा दी जाय। किन्तु राजा जानता था कि जोन के जाते ही सेना का उत्साह ठंडा पड़ जायगा। पेरिस अभी तक शत्रुओं के अधिकार में था। वहाँ शत्रुओं ने काफी शक्ति संचित कर ली थी इसलिए राजा पेरिस के आक्रमण में जोन को सैन्य संचालन का कार्य सौंपना चाहता था। राजाज्ञा के आगे जोन को झुकना पड़ा और जोन को अनिच्छा-पूर्वक जाना पड़ा। ८ सितम्बर सन् १४२६ ई० को जोन ने आक्रमण किया। यह ईसाइयों का पर्व था फिर भी राजा की आज्ञा पालन करने को वह विवश थी। अंग्रेजों के पास कई गुनी अधिक सेना थी अतः फ्रांसीसी सैनिक भाग खड़े हुए। जोन ने इस युद्ध में प्राण दे देना ही उचित समझा। इस युद्ध में वह बहुत आहत हो गई और फ्रांसीसी सेनापति उसे बलपूर्वक रण-भूमि से निकाल लाया। बसन्त में फिर कम्पियन नगर के उद्धार के लिए उसने यात्रा की। घमासान लड़ाई हुई परन्तु शत्रु दल के प्रबल प्रहार के आगे फ्रांसीसी सेना भाग खड़ी हुई। जोन ने उसे उत्साह दिलाया किन्तु फिर भी शत्रु सेना का प्रतिघात तेज था। इसी बीच अंग्रेजों ने सोचा कि इस अलौकिक शक्ति वाली महिला से पार पाना संभव नहीं है इसलिए उन्होंने फ्रांस के सम्राट् को सन्धि के लिए प्रलुब्ध किया। जोन संधि के विरुद्ध थी, किन्तु सम्राट् ने संधि स्वीकार कर ली। इस कारण सैनिकों में सन्धि-समर्थक और युद्ध-समर्थक दो दल हो गये। अतएव फ्रांसीसी सेना की शक्ति क्षीण हो गई। फिर भी जोन वीरतापूर्वक युद्ध करती रही। शत्रु दल प्रलय वेग से बढ़ा आ रहा था अतएव कोई चारा न देख कर जोन ने सैनिकों को युद्धक्षेत्र छोड़ देने की आज्ञा दे दी। जोन भी युद्ध-क्षेत्र छोड़ने की तैयारी में थी कि सहसा शत्रु सेना ने उसे घेर

लिया। अंग्रेज सेनापतियों ने युद्ध के समर्थक बरगंडी को सोलह सहस्र पौंड देकर फोड़ लिया था। इस देशद्रोही ने जोन के साथ विश्वासघात किया और जोन को आत्मसमर्पण करना पड़ा। इस देशद्रोही ने उसे कार्ड लिग्नि के हाथ में सौंप दिया।

बन्दीगृह में

जोन को कारागार में काफी यातना भुगतनी पड़ी। "जोन तुम कारागार से मुक्त हो सकती हो। केवल तुम्हें वचन देना होगा कि तुम अब कभी अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र न उठाओगी" अंग्रेज सेनापति ने कहा।

"जब तक मैं जीवित हूँ, स्वदेश की स्वतंत्रता की ज्वाला मेरे हृदय में अमर है। जब भी मुझे अवकाश मिलेगा मातृभूमि को स्वाधीन करने का मैं प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करूँगी। तुम अपने अधिकारी के आदेश का पालन करो मैं अपने प्रभु की आज्ञा का पालन कर रही हूँ" जोन ने यूँ निर्भीकतापूर्वक इस घृणित प्रस्ताव को ठुकरा दिया। जेल की भीषण यातनाओं से वह रमणी तनिक भी विचलित नहीं हुई। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास-लेखक टर्नर ने उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके दोनों पैर लोहे की मजबूत जंजीरों से बंधे हुए थे और एक जंजीर से उसका दुर्बल शरीर-बीचोंबीच कि वह तनिक भी हिल-डुल न सके। उसके लिए एक लोहे का पिंजरा बनाया गया था जिसमें उसके हाथ, पैर, गर्दन सब कसे रहते थे।

बलिदान

इधर जोन तो इस प्रकार कष्ट सहन कर रही थी। उधर एक ओर चार्ल्स हाथ पर हाथ धरे निकम्मा बैठा था दूसरी ओर अंग्रेज उसके विनाश के लिए षडयंत्र रच रहे थे। कई जासूस छोड़े गये कि उसकी जन्मभूमि में जाकर कोई ऐसा दोष खोज कर लावें जिसके आधार पर उसे प्राणदंड दिया जा सके परन्तु वे सब असफल रहे। एक वर्ष तक कष्ट भोगने के बाद जोन को विचारालय में उपस्थित किया गया। ९ जनवरी सन् १४३१ को विचार प्रारम्भ हुआ। कचन और धर्मशासन के प्रतिनिधिगण

अभियोग पर विचार करने बैठे परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर जोन को प्राणदंड नहीं दिया जा सकता था। उनके काफी प्रतिवाद भी प्रस्तुत किये जा सकते थे। कचन ने अपने विरोधियों को २१ फरवरी को विचारालय में नहीं बुलाया। ३/४ दिन तक कार्यवाही होती रही फिर भी मतभेद हो गया और जोन को प्राणदंड नहीं दिया जा सका। कारागार में उसके अभियोग पर विचार किया गया क्योंकि विचारालय में सर्व-साधारण की भीड़ होती थी। उससे कहा गया था कि वह धर्मद्वेषिणी होना स्वीकार कर ले किन्तु उसने साहस के साथ सदा यही कहा—"यदि मुझे अग्नि-कुंड में फेंक दोगे तो भी मैं जो कुछ कह चुकी हूँ उसी पर दृढ़ रहूँगी।" आखिर २६ मई को कचन ने यह घोषणा की—"यह स्त्री होकर युद्ध करती है और अपने को ईश्वरीय सन्देश वाहिका बतलाती है। दोनों बातें ईसाई धर्म की दृष्टि में अपराध हैं।" अतः धर्म द्वेषिता के अपराध में जोन को जीवित ही अग्नि कुंड में जला दिया जाएगा। रुआँनगर के एक पुराने बाजार में स्थान निश्चित हुआ। मंच पर कचन और अन्य धर्म-पालक-गण बैठे। चिता सजाई गई। जोन ने घुटने टेक कर प्रार्थना की और आत्म-तेज उसके मुख मंडल पर दीप्त हो उठा। उसने कहा—"आप लोग मेरी आत्मा के कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना कीजिए।" ये शब्द सुन कर स्वयं कचन के नेत्रों में आँसू भर आये। आँसू पोंछ कर उसने दंडाज्ञा सुनाई। जनता के नेत्रों से अश्रु प्रवाह चल पड़े। अन्तिम समय में उसने एक क्रास दंड माँगा। एक अंग्रेज ने अपने हाथ की छड़ी तोड़ कर क्रास बना कर उसे दे दिया। जोन उसे भक्तिपूर्वक हृदय में धारण करके अपनी अन्तिम यात्रा के लिए तैयार हो गई। ३० मई सन् १४३१ को १६ वर्ष की अवस्था में यह जननी जन्म-भूमि पर सब कुछ न्यौछावर करने वाली वीरांगना अग्नि में फेंक दी गई। उसने अन्तिम समय में कहा—"निश्चय ही मुझे धोखा नहीं हुआ; जो वाणी मैंने सुनी थी वह निश्चय ही भगवद्वाणी थी।......फ्रांस अमर है! वह स्वाधीन होकर रहेगा।" और थोड़ी देर में अनल ने इस देवी के पार्थिव शरीर को भस्मीभूत कर दिया।

इस देवी के वाक्य यथार्थ ही निकले। २६ वर्ष बाद उसी बलि-स्थल पर फ्रांस के प्रसिद्ध धर्म-पालकों ने मिल कर जोन को निर्दोष सिद्ध किया और उसे 'साधु' की उपाधि दी। उसका भव्य स्मारक बनाया गया और आज भी समस्त संसार वहाँ नत-मस्तक उस दिवंगत आत्मा का अभिनन्दन करता है।

४ : दास प्रथा का विरोधी—अब्राहम लिंकन

जब योरोप वाले अमरीका के जंगलों में जाकर बसने लगे तो उन्हें खेती-बारी तथा अन्य कार्यों के लिए मजदूरों की आवश्यकता पड़ने लगी। इसके लिए वे आदिम वासियों को पकड़ कर दास बना लेते थे। इन मजदूरों के साथ नीचतापूर्ण व्यवहार होता था। इनकी स्थिति पशुओं से भी गई बीती थी। दिन-भर कड़ी मेहनत, रूखा-सूखा भोजन, वह भी भरपेट नहीं, उस पर जरा सी भूल पर कोड़े पड़ते, हाथ-पैर काट दिये जाते और कई बार तो जीवित ही जला दिये जाते थे। यह नृशंसतापूर्ण व्यवहार कई वर्षों तक चलता रहा। पशुओं और जड़ वस्तुओं के समान इन गुलामों को बेचा और खरीदा जाता था। धीरे-धीरे सहृदय विद्वानों को इन गुलामों पर दया आने लगी और जहाँ-तहाँ विरोध होने लगा। किन्तु गुलामों के व्यापार करने वाले स्वार्थी और क्रूर लोगों पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। एक ओर मानवता थी दूसरी ओर करोड़ों का व्यापार। बस इन्होंने मानवता को तिलांजलि देकर गुलामों के व्यापार को ही स्वीकार किया।

इस भीषण स्थिति में इन मौन-मूक सहिष्णु गुलामों का भीषण यंत्रणाओं से उद्धार करने के लिए एक स्वर्गीय विभूति का आविर्भाव

हुआ। उसका नाम था अब्राहम लिंकन। अब्राहम लिंकन ने अपने प्राणों की चिन्ता नहीं की और भारी विपत्तियाँ उठा कर भी मानवता के इस कलंक को धो दिया।

जन्म और बचपन

अब्राहम लिंकन का जन्म उत्तरी अमेरिका की केन्ट नामक रियासत में १२ फरवरी १८०७ ई० को हुआ था। अब्राहम अपने माता-पिता का दूसरा बच्चा था। अब्राहम का पिता सदाचारी और निर्धन था। उसकी माता नान्सी सरलहृदया सदाचारिणी और दक्ष थी। उसने अपने पति को अट्ठाईस वर्ष की आयु में लिखना पढ़ना सिखाया था। नान्सी धर्मप्राण महिला थी और उसकी धर्म पर अटल श्रद्धा थी। इस सदाचारी दम्पति का प्रभाव उनकी सन्तान पर अच्छा पड़ा और अब्राहम बचपन से ही सदाचारी, सत्यभाषी, कर्त्तव्यनिष्ठ और चरित्रवान् बनने लगा।

अब्राहम को उसके माता-पिता प्रेम से 'एबू' कह कर पुकारते थे। एबू बचपन से ही खेल कूद और कसरत का शौकीन था। एबू का पिता स्वयं अपढ़ रह गया था किन्तु वह अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलाना चाहता था। बचपन में ही एबू को एक स्कूल में भेजा गया जो कि घर से दो कोस दूर था। एबू दोपहर को खाने के लिए रोटी बाँध कर सुबह घर से निकल जाता था। कुछ ही दिनों में उसने अपने शिक्षक हेजेल से जो कुछ वह जानता था सब सीख लिया। अब वह पुस्तक पढ़ सकता था।

जब अब्राहम ७ वर्ष का था तभी उसके पिता को निर्वाह के लिए इंडियाना प्रान्त का प्रवास करना पड़ा। उसने एक डोंगी तैयार की और अपनी घर-गृहस्थी का सारा सामान रख कर, स्त्री-बच्चों सहित उस पर बैठ कर चल दिया। कई बार नाव डूबते-डूबते बची और वे जा कर किनारे पहुँचे। वहाँ से एक बैल गाड़ी से चले। मार्ग में बीहड़ जंगल था। अब्राहम का पिता आगे चलता हुआ कुल्हाड़ी से पेड़ों को काट-काट कर रास्ता बनाने लगा। इस प्रकार अठारह मील चल कर वे गंतव्य स्थान पर पहुँचे। वहाँ जा कर अब्राहम और उसके माता-पिता ने मिल

कर घर तैयार किया। आठ वर्ष की अवस्था में बालक एबू ने कुल्हाड़ी पकड़ी और वह कुल्हाड़ी तीस वर्ष की आयु तक उसके हाथ में रही।

इंडियाना प्रदेश के जिस भाग में लिंकन परिवार जा कर बसा था वहाँ आकर अन्य परिवार भी बस गये, किन्तु ये लोग अधिकांश अशिक्षित और शराबी थे। इस कारण अब्राहम भी शराब पीने लग गया। यह देख कर उसकी माता को बहुत दुःख हुआ। उसने अब्राहम को शराब की हानियाँ समझाईं। उसी दिन बालक एबू ने प्रतिज्ञा की कि वह इस जीवन में कभी शराब नहीं छुएगा। इस प्रतिज्ञा को उसने आजन्म निबाहा।

इस प्रकार के आनन्दपूर्वक दिन अधिक समय तक नहीं रहे और इंडियाना में आने के एक वर्ष बाद ही एबू की माता चल बसी। यह कल्पना करना भी कठिन है कि नौ वर्ष के बालक एबू पर और उसके पिता पर इस समय क्या बीती होगी! सारा संसार उन्हें सूना-सूना लगने लगा। अब्राहम घंटों बैठ कर अपनी माँ की याद में रोया करता था। ज्यों-ज्यों उसकी उम्र बढ़ने लगी माँ की सदाचारिता और धार्मिकता की ओर उसका आकर्षण बढ़ने लगा। वह माता के समान ही सद्गुणों को प्राप्त करने में प्रयत्नशील हुआ।

एबू पड़ोसी लोगों की चिट्ठियाँ लिख देता था और सुन्दर ढंग से भावों को व्यक्त करके चिट्ठी पढ़ कर सुनाया करता था। एबू ने माता के वियोग से उत्पन्न उदासी को दूर करने के लिए पुस्तकें पढ़ना आरम्भ किया। उसके पिता ने उसके लिए 'पिलग्रिमस् प्रोग्रेस' (Pilgrim's Progress) व 'ईसप की कहानियाँ' ला कर दीं। एबू के चरित्र-गठन में ये पुस्तकें सहायक हुईं।

शील और सत्य-प्रियता

एक दिन अब्राहम अपने शिक्षक जोशिया से अमरीका के स्वातंत्र्य संग्राम के सेनानी और अमरीका के पिता जार्ज वाशिंगटन की जीवनी माँग कर लाया। उस रात्रि को काफी वर्षा हो रही थी। अब्राहम काफी रात तक उसे पढ़ता रहा और उसे पढ़ते-पढ़ते ही सो गया। भूल से

खिड़की खुली रह गई और पुस्तक भीग कर खराब हो गई। उसने जोशिया को जा कर दुःखपूर्वक सब घटना कह सुनाई और प्रार्थना की कि पुस्तक के मूल्य के बदले में उससे कोई काम करवा लिया जाय। जोशिया ने अपने खेत की घास काटने का आदेश दिया। खेत काटने की मजदूरी पुस्तक के मूल्य से बहुत अधिक थी परन्तु अब्राहम ने यह स्वीकार कर लिया। तीन दिन तक कठिन परिश्रम करके उसने छुटकारा पाया।

एक अन्य घटना एबू की सत्य-निष्ठा के सम्बन्ध में उद्धृत करना ठीक होगा। उन दिनों बालक एबू क्राफर्ड के स्कूल में पढ़ता था। स्कूल की दीवार पर एक हिरन का सींग टंगा था। एक दिन शिक्षक ने उसे टूटा पाया। जब शिक्षक ने पूछा "तुम लोगों में से किसने यह तोड़ा है?" एबू ने अपराध स्वीकार करते हुए कहा—"जी, यह मुझसे टूटा है।"

"किस तरह तोड़ा?"

"मैंने यह जान कर नहीं तोड़ा, मैं सींग पकड़ कर झूल रहा था, इतने में यह टूट गया। यदि मैं यह जानता कि झूलने से यह टूट जायगा तो मैं कदापि उसे पकड़ कर नहीं झूलता।"

यह उत्तर सुन कर क्राफर्ड बहुत प्रसन्न हुआ और उसने टॉमस से आकर एबू की प्रशंसा की।

जीवन-क्षेत्र में

सोलह वर्ष की उम्र में अब्राहम ने टेलर नामक एक ठेकेदार के घर नौकरी की। उसे मल्लाह का काम सौंपा गया। साथ ही उससे डट कर घर का काम भी लिया जाता। परन्तु अब्राहम के माथे पर सल नहीं पड़ा। उसने उत्साह से काम किया और वह आधी रात तक पढ़ता रहता। उसके स्वामी ने डायरी में लिखा—"एबू दिन भर कड़ी मेहनत करता, रात में आधी रात तक पढ़ा करता था। फिर सबेरा होते ही सबसे पहले उसे उठना पड़ता। एबू जैसा आदमी मैंने अपनी जिन्दगी में कभी नहीं देखा।"

अब्राहम ने १७ वर्ष की आयु में मद्य-पान के विरोध में एक लेख लिखा, जिसके प्रकाशित होने पर उसकी काफी प्रशंसा हुई। उड साहब

के कहने पर उसने एक राजनीतिक लेख भी लिखा जिसे पढ़ कर उड साहब और उनके वकील मित्र स्तंभित रह गये। इसी उम्र में अब्राहम को कानून की पुस्तकों के अध्ययन का शौक हो गया।

अब्राहम और उसके पिता कड़ी मेहनत करते थे। फिर भी उनका निर्वाह अच्छी तरह नहीं हो पाता था। अतः वे इंडियाना छोड़ कर खतरनाक मार्गों से हो कर इलिनॉइस प्रान्त में गये। यहाँ जगल काट कर अपना निवास-स्थान बनाया परन्तु जलवायु अनुकूल नहीं रही अतः विवश हो कर उन्हें यह प्रान्त भी छोड़ना पड़ा और वे कोल्स प्रान्त में जा बसे। डेंटन ओकट नामक एक व्यापारी ने अब्राहम की प्रशंसा सुनी और वह उससे मिलने आया। उसने स्प्रिंगफील्ड चलने का आग्रह किया। अब्राहम ने उसका आग्रह स्वाकार कर लिया और अपने परिवार सहित न्यूसालेम नामक नगर में पहुँच गया। वहाँ डेंटन की बहुत बड़ी कोठी थी और काफी व्यापार था किन्तु उसका मैनेजर योग्य नहीं था। इस कारण डेंटन को सदा घाटा ही रहा करता था। अब्राहम ने जाते ही अपने नम्र और सरल व्यवहार से ग्राहकों को प्रसन्न कर लिया। इतना बड़ा काम संभाल कर भी उसे घमंड नहीं था। अब्राहम ने अपनी सत्य-परायणता नहीं छोड़ी। एक बार एक स्त्री कुछ पैसे अधिक दे गई। रात्रि को हिसाब मिलाते समय अब्राहम को मालूम पड़ा तो उसने अन्धेरे में ढाई कोस चल कर उसके सवा दो आने लौटाये तब कहीं चैन से सोया। अब्राहम अपने नम्र व्यवहार, मिलनसार स्वभाव, कर्तव्यपरायणता और सत्य-प्रेम के कारण शीघ्र ही प्रसिद्धि पा गया। उसका अनुभव भी बढ़ गया और कितने ही बड़े-बड़े लोग उसके मित्र बन गये।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश

यूरोपियन लोगों के बस जाने पर अमरीका के आदिमवासी जंगलों में रहने लगे और यदाकदा संगठित हो कर यूरोपियन लोगों पर आक्रमण करके लूट-मार और हत्या करने लगे। ये लोग मिसिसिपी नदी के दक्षिण में रहते थे। १८३२ में इन्होंने अपने सरदार ब्लेकहाक के नेतृत्व

में मिसिसिपी नदी पार कर के आक्रमण कर दिया। अमरीकी सरकार ने इसका सामना करने के लिए स्वयंसेवकों की माँग की। अब्राहम भी कुछ साथियों सहित इस सेना में भरती हो गया। उस समय सैनिक स्वयं अपने कप्तान का निर्वाचन करते थे। जब चुनाव का समय आया तो अब्राहम के पक्ष में ६० प्रतिशत सैनिकों ने राय प्रकट की। अब्राहम जीवन भर कहता रहा—"इस चुनाव में मुझे जितना आनन्द हुआ उतना और किसी चुनाव में नहीं हुआ।" अब्राहम ने कई जगह शत्रु पक्ष से टक्कर ली। उसका अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ बहुत ही अच्छा व्यवहार था। वह अपने से अधिक चिन्ता सैनिकों की रखता था। इस तरह सैनिकों को उसने वश में कर रखा था। कई लड़ाइयाँ लड़ने के बाद ब्लेकहाफ अपने साथियों सहित पकड़ लिया गया।

ब्लेकहाफ के आत्म-समर्पण के बाद अब्राहम गाँव में आ कर रहने लगा। इसी समय कांग्रेस का चुनाव होने वाला था। लोगों ने अब्राहम को खड़ा किया। उसे दूसरों की अपेक्षा २७७ वोट अधिक मिले परन्तु अन्य प्रान्तों के लोग उसे जानते नहीं थे इसलिये अन्य प्रान्तों में उसका नाम नहीं आ सका।

कुछ समय तक व्यापार करने के बाद उसने पोस्ट मास्टर का काम किया। यह काम भी उसने ईमानदारी से किया। जब उसने पोस्ट मास्टर की नौकरी छोड़ी तो कुछ पैसे बच गये। हिसाब में बढ़ जाने से वह सरकार को भी नहीं दे सकता था। अतः उसने वे पैसे अपनी टोपी में रख लिए। कई बार पैसों की बड़ी आवश्यकता पड़ी परन्तु उसने उन पैसों को हाथ नहीं लगाया। कुछ वर्षों बाद किसी अधिकारी ने भूल पकड़ी और सारा हिसाब लेकर एक आदमी को लिंकन के पास भेजा। उसने उसी समय अपनी टोपी में से पैसे निकाल कर दे दिये। यह देख कर उस अधिकारी को बड़ा आश्चर्य हुआ।

वकालत और कांग्रेस में प्रवेश

पोस्ट मास्टर का काम छोड़ने के कुछ समय बाद अब्राहम ने कानून

का अध्ययन करने का निश्चय किया। वह आठ-आठ दस-दस कोस से जाकर कानून की पुस्तकें लाता और बिना कुछ खाये पिये घंटों पेड़ के नीचे जा कर पढ़ा करता। १८३७ में उसने वकालत पास की और वकील बना। उसने कभी झूठा मामला हाथ में नहीं लिया और गरीबों के शोषण करने वालों का साथ भी नहीं दिया। जिस समय उसे यह मालूम होता कि उसका पक्ष सत्य पक्ष नहीं है तो वह बड़ा लज्जित होता और उसी समय से पैरवी करना छोड़ देता। इस समय वह दूसरी बार राजसभा का सदस्य चुना गया।

सन् १८४२ ई० में उसका विवाह 'मेरी टाड' नामक स्त्री से हुआ। दोनों में बड़ा प्रेम था और वह जीवनपर्यन्त बना रहा।

दास प्रथा का विरोध

कांग्रेस में प्रवेश करते ही लिंकन की विद्वत्ता, योग्यता और वक्तृत्व-शक्ति का प्रभाव बढ़ा। लोगों को अनुभव होने लगा कि लिंकन को जितने अधिकार दिये जावेंगे उतना ही देश का भला होगा। लिंकन अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में भारी यातनाएँ सह चुका था। उसके कोमल और सहानुभूतिपूर्ण हृदय में गुलामों के प्रति किये जाने वाले निर्दयतापूर्ण व्यवहार के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई थी। वह इस गुलामी की प्रथा को, गुलामों के व्यापार को और स्वामी कहलाने वालों के राक्षसी-व्यवहार को मनुष्य जाति का कलंक मानता था और उसे हर मूल्य पर मिटाना चाहता था। वह सदा कहता था कि ईश्वर इसे बिलकुल पसन्द नहीं करता कि मनुष्य मनुष्य के साथ पशुवत् व्यवहार करे।

कांग्रेस में लिंकन का सब से बड़ा प्रतिपक्षी डग्लस था। वह गुलामों के व्यापार के सम्बन्ध में लिंकन के विरुद्ध था। साथ ही दास-प्रथा बन्द करने की आवाज से दक्षिणी रियासतों के लोग लिंकन के विरोधी हो गये क्योंकि वहीं इसका सब से बड़ा व्यापार होता था। डग्लस ने उनका नेतृत्व किया। दक्षिण का तो सारा काम ही गुलामों पर चलता था। अतः डग्लस और लिंकन का वैमनस्य दिन प्रति दिन बढ़ता गया। लिंकन प्रान्त-

प्रान्त में घूम कर दास प्रथा का विरोध करता और उसके पीछे-पीछे डग्लस उसका खंडन करता। परन्तु लिंकन का प्रभाव दिन प्रति दिन अग्रसर होता गया। १८६० तक तो लिंकन सारे देश में प्रसिद्ध हो गया। दास-प्रथा संबंधी अशांति के समय १८५६ में 'प्रजासत्तात्मक पक्ष' नामक एक समिति की स्थापना हुई। इसमें लिंकन ने जो भाषण दिया वह जगत प्रसिद्ध है। इस से लोगों को विश्वास होने लगा कि अब्राहम के समान कोई महापुरुष अमेरिका में नहीं है। उत्तरी रियासतों में तो वह पूजनीय हो गया।

कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर

१६ जून १८६० के दिन लगभग २५ हजार लोगों की सभा में अब्राहम को कांग्रेस का अध्यक्ष घोषित किया गया। जब वह अपना पद सँभालने के लिए स्प्रिंगफील्ड से रवाना हुआ तो हजारों की संख्या में लोग उसे विदा करने एकत्र हुए। जनता मुग्ध थी और लिंकन की आँखें डबडबा आईं थी। रास्ते भर लिंकन का स्वागत होता रहा। विरोधियों ने उसकी हत्या का प्रबन्ध किया परन्तु जगह-जगह जासूस फैले थे अतः षड्यंत्र सफल नहीं हुए।

दास-प्रथा की समाप्ति

लिंकन को दोनों दलों के बढ़ते हुए द्वेष से बड़ा दुःख था। उसने कांग्रेस में प्रथम भाषण दिया। उसमें ही उसने दोनों दलों से प्रेमपूर्वक रहने की अपील की। इस अपील से उसके कई विरोधियों के मन बदल गये। परन्तु १८६१ में दक्षिणी रियासतों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। विद्रोहियों ने चार्लस्टन नगर के सम्टर नामक किले को घेर लिया। उत्तर वालों ने ७५ हजार सैनिक तैयार किये। लड़ाई छिड़ने ही वाली थी। उसी समय लिंकन के सबसे बड़े विरोधी डग्लस के मन में भारी परिवर्तन हुआ और वह लिंकन का प्रबल समर्थक हो गया। युद्ध हुआ परन्तु उत्तर वाले हार गये। डग्लस ने सुझाया कि इस प्रकार काम नहीं चलेगा। हमें सैनिक-शक्ति

बढ़ाना चाहिए। अतः ६ लाख चालीस हजार सैनिक इकट्ठे किये गये। जम कर घमासान लड़ाई होने लगी।

यह सब उपद्रव दास प्रथा को लेकर ही हो रहा था। अतः अब अवसर था कि दास-प्रथा के अन्त की घोषणा कर दी जाय। इसलिए १ जनवरी, १८६३ ई० में उसने घोषणा पत्र द्वारा यह घोषित किया—"आज से सब संस्थाओं के गुलाम मुक्त हो गये। उन पर मालिकों की कुछ भी सत्ता नहीं रहेगी और वे अन्य लोगों की भाँति स्वतंत्र रहेंगे। जो व्यक्ति उनकी स्वतंत्रता में बाधा डालेगा वह सरकार का शत्रु माना जायगा और उसे नियमानुसार दंड दिया जायगा।" अब तो लिंकन का पक्ष और प्रबल हो गया। ४० लाख गुलाम मुक्त हो गये। दक्षिण वालों ने इस विपत्ति का सामना किया परन्तु अन्त में वे परास्त हो गये और लिंकन का पवित्र संकल्प पूरा हुआ।

लिंकन ने सागर के समान गंभीरता रखकर अपने जीवन की पूर्वार्द्ध की विपत्तियों का सामना किया था। उसी प्रकार उत्तरार्द्ध की सफलताओं में भी वह फूला नहीं। उसने इन सफलताओं के लिए जनता का आभार माना और ईश्वर को धन्यवाद दिया। उसने कर्त्तव्यनिष्ठा और सेवा-भावना से मातृभूमि और मानव जाति की सेवा की।

लिंकन के अध्यक्ष पद का कार्यकाल समाप्त होने पर उसे फिर दूसरी बार अध्यक्ष चुना गया। इससे उसके विरोधियों में बड़ी उत्तेजना फैली, पर जनता खुशी में झूम उठी। जगह-जगह स्वागत समारोह किये जाने लगे। स्थान-स्थान पर विजय के उपलक्ष में नाटक खेले जाने लगे। इधर तो जनता अपने नेता का आदर कर रही थी उधर विरोधी लिंकन को समाप्त करने के षडयंत्र रच रहे थे। १४ अप्रेल १८६५ को लिंकन एक नाटक देखने गया। खेल देखने में जनता और लिंकन खो गये थे। इसी समय बन्दूक की आवाज ने रंग में भंग कर दिया। दूसरे ही क्षण अब्राहम खून से लथ-पथ मृतप्राय होकर लुढ़क गया। गोली सिर को छेद चुकी थी। बड़े-बड़े डाक्टरों ने प्रयत्न किये कि किसी तरह लिंकन बच जाय परन्तु सब हार गये और दूसरे ही दिन प्रातःकाल लाखों अनाथों,

पीड़ितों और शोषितों का प्राण प्यारा लिंकन अपनी निर्मल कीर्ति छोड़ कर सदा के लिए सो गया। मानवता के कलंक को धोने वाली इस देश सेवी, सत्यनिष्ठ, सेवा परायण, पर दुःख-कातर आत्मा को अमरीका की जनता ही नहीं सारा संसार श्रद्धा सहित याद करता है।

५ : विश्व का महान विचारक—कार्ल मार्क्स

“जैसे कि सजीव प्रकृति में डार्विन ने विकास के नियम का पता लगाया था, वैसे ही मानव इतिहास में मार्क्स ने विकास के नियम का पता लगाया था। उन्होंने इस साधारण सी बात का पता लगाया—जो अब तक सिद्धांतों के जाल से ढँकी हुई थी—कि राजनीति, विज्ञान, धर्म, कला आदि-आदि को अपना समय देने के पूर्व मनुष्य जाति के लिए पहले खाना-पीना, कपड़े पहनना और घर में रहना आवश्यक है। इसलिए जीविका के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन और फलतः किसी भी युग में समाज के आर्थिक विकास की मंजिल की वह नींव है, जिस पर राजकीय संस्थाएँ, न्याय सम्बन्धी कल्पनाएँ, कला और यहाँ तक कि लोगों के धार्मिक विचार भी फलते-फूलते हैं। उन्हीं के प्रकाश में इन सबकी व्याख्या की जा सकती है, न कि इससे उल्टा जैसा कि अब तक होता रहा है।” (कार्ल मार्क्स की समाधि पर एंजिल्स का भाषण)।
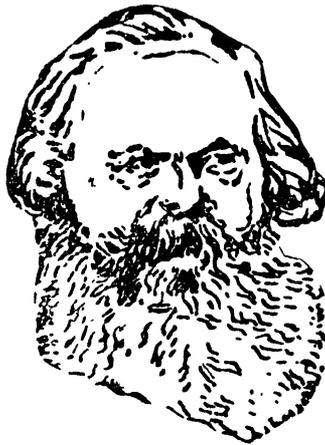
मार्क्स का नाम आज विश्व का प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति जानता है। वे क्रान्तिकारी थे उन्होंने अपने क्रांतिकारी विचारों से युग-परिवर्तन कर दिया। वैज्ञानिक

समाजवाद के प्रवर्तन का श्रेय इन्हीं को है। इन्हीं ने सबसे प्रथम मज़दूर-आन्दोलन को वैज्ञानिक आधार दिया।

जन्म और बचपन

कार्ल मार्क्स का जन्म ५ मई १८१८ को जर्मनी के त्रेव नामक नगर में हुआ था। उनका पूरा नाम कार्ल हेनरिक मार्क्स था। उनके पिता यहूदी थे पर बाद में अत्याचारों से तंग आकर ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया था। वे वकील थे फिर भी धनहीन। मार्क्स की माता हालैंड की थी। उसके कई बच्चे हुए परन्तु किसी ने उसकी धन की इच्छा पूरी नहीं की।

आरंभिक शिक्षा इन्होंने वहीं ग्रहण की। बचपन से ही इस मेधावी छात्र में होनहार के गुण पाये जाते थे। प्रारंभ से ही मार्क्स अध्ययनशील और खेलकूद में उत्साही थे। बोन में उन्होंने कानून की शिक्षा प्राप्त की।

बोन से कार्ल्स ने एक वर्ष बाद ही १८३६ में बर्लिन विश्वविद्यालय में अपना नाम लिखवाया। बर्लिन जाने के पूर्व ही मार्क्स प्रेमसूत्र में बँध चुका था। उसने वेस्टफेकन की पुत्री जेनी को विवाह करने का वचन दे दिया। यह सूत्र अन्त तक दृढ़तर होता रहा।

बर्लिन में आकर मार्क्स ने अध्ययन में अपना मन लगाया। उसने अन्य लोगों से मिलना जुलना भी छोड़ दिया। अब कानून से उसकी रुचि अर्थशास्त्र इतिहास और दर्शन की ओर हो गई। उन्हें सत्यज्ञान की धुन सवार हो गई और उन्होंने तन्मयता से सत्यज्ञान का अन्वेषण भी आरंभ कर दिया। वे हीगेल के सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित हुए।

अत्यधिक परिश्रम के कारण मार्क्स बीमार हो गये और उन्हें देहात में जाना पड़ा। स्वास्थ्य में सुधार होने पर पिता ने अपनी इच्छा व्यक्त की कि वह नौकरी करके धन-संग्रह करे किन्तु मार्क्स को तो दूसरी ही धुन सवार थी। सन् १८३८ में उनके पिता का देहान्त हो जाने से मार्क्स ने प्रोफेसरी के लिए प्रयत्न किया। बोन विश्वविद्यालय में उन्हें आशा भी थी किन्तु आशा पूरी नहीं हुई। १८४१ में उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि मिल गई परन्तु प्रोफेसरी का सपना पूरा नहीं हो पाया।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश

१८४२ में जब प्रोफेसर होने का अवसर आया तो मार्क्स राजनीति में कूद पड़े। फ्रेडरिक विलियम तृतोय की मृत्यु के बाद राजनीतिक आन्दोलन छिड़ा। इस आन्दोलन ने मार्क्स की दिशा ही बदल दी। राइनलेंड के उदार दल वाले नेताओं ने जनता के अधिकारों की वृद्धि के उद्देश्य से "राइनिरोत्साइटुङ" का प्रकाशन आरंभ किया। इस पत्र के मार्क्स प्रमुख लेखक बन गये और १८४२ की शरद् में रूटेनबर्ग के इस पत्र से अलग होते ही मार्क्स को प्रधान सम्पादक बना दिया गया। मार्क्स के लेखों का प्रभाव तो जनता और सरकार पर पहले ही पड़ चुका था किन्तु सम्पादक होने के पूर्व उन्होंने राइन प्रदेश की धारा सभा की कार्यवाही की जो आलोचना की उसने तो हलचल ही मचा दी। अब मार्क्स के प्रधान सम्पादक बनने पर तो यह पत्र सरकार-विरोधी क्रान्तिकारी पत्र बन गया। उस पर सेंसर लगाया गया परन्तु असफल रहा। दोहरा सेंसर भी प्रांतीय-शासन-सभा के प्रेसीडेन्ट द्वारा लगाया गया फिर भी मार्क्स की लेखनी चलती रही और वह बुद्धिमानी से सेंसर की आँखों में धूल झोंक कर भी जनता में अपने विचारों का प्रसार करने लगा। अन्त में १८४३ में ही शासन ने इस पत्र को अधिकार में रखना असम्भव समझ कर बन्द कर दिया।

विवाह और साम्यवादी विचार

इसी बीच मार्क्स का विवाह जेनी से हो गया था। जेनी का भाई आगे चल कर जर्मन सरकार का प्रतिक्रियावादी मंत्री बना। मार्क्स पर हीगेल का प्रभाव तो पहले था ही अब उसने प्रूधों, कौबेट, विटलीग आदि विद्वानों के समाजवादी विचारों का अध्ययन किया। मार्क्स को इनके विचारों में कल्पना की रंगीनी तो दिखी परन्तु इनसे उसे सामाजिक कल्याण की सम्भावना नहीं दिखाई दी।

मार्क्स अब पेरिस चले आये। वहाँ पर ए० रूगे के साथ जर्मन फ्रांसीसी महाग्रन्थ (दोईत्से फ्रान्सोसिशे यार ब्यूखेर) प्रकाशित किया। यहीं उन

की एँगेल्स से मित्रता हुई। उन्होंने पहले तो "हीगेल के न्यायदर्शन की समालोचना" प्रारंभ की फिर ऐंगेल्स के साथ 'पवित्र परिवार' और "ब्रूनोबावर और उसके सहयोगियों का विरोध" नामक रचनाओं में उस समय के जर्मन आदर्शवादी दर्शन के नवीनतम रूपों की व्यंग्यात्मक समालोचना की। उन्होंने इस पुस्तक में हीगेल के अनुयायियों को शुष्क तार्किक झगड़ों से हटा कर जन सेवा की ओर लगाने का प्रयत्न किया।

इन कार्यों में व्यस्त रह कर भी मार्क्स हीगेल जर्मनी की निरंकुश और अत्याचारी सरकार की खूब खबर लेते रहते थे। जर्मनी की सरकार के अनुरोध से इन्हें फ्रांस से भी निर्वासित कर दिया गया। यहाँ से मार्क्स बेलजियम की राजधानी ब्रुसेल्स गये। सन् १८४५ से १८४८ तक ये ब्रुसेल्स में ही रहे।

ब्रुसेल्स में मार्क्स के कार्य

ब्रुसेल्स में आकर १८४७ में फ्रेंच भाषा में "दर्शनशास्त्र की निर्धनता" नामक पुस्तक प्रकाशित की। सामाजिक क्षेत्र में भी मार्क्स ने कार्य आरम्भ कर दिया। पेरिस के मजदूरों द्वारा १८३६ में 'लीग ऑफ जस्ट' स्थापित होने के बाद योरोप के अनेक देशों में भी स्थापित की गई थी। मार्क्स ने इसमें सम्मिलित होकर प्रत्यक्ष आन्दोलन करना आरंभ कर दिया और १८४७ में इसका नाम बदल कर 'कम्युनिस्ट लीग' रख दिया। अब तो इसका ढाँचा ही बदल गया और यह कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रचार का साधन बन गई, केवल षड़यंत्रकारियों की सभा नहीं रही। फिर भी वह गुप्त ही रही क्योंकि परिस्थितियों के कारण वह गुप्त रहने के लिए बाध्य थी। यह सभा इंग्लेंड, बेलजियम, फ्रांस, स्विट्जरलेंड, जर्मनी और पोलेंड सभी जगह फैल गई और इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा का स्थान पा लिया।

नवम्बर १८४७ में दूसरी कांग्रेस में लीग की काया पलट कर दी। इस कांग्रेस की घोषणा के अनुसार "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र" (कम्युनिस्ट मेनिफैस्टो) प्रकाशित करने का निश्चय हुआ। मार्क्स और ऐंगेलस द्वारा फरवरी क्रांति के कुछ पहले १८४८ में यह ऐतिहासिक

घोषणा-पत्र प्रस्तुत किया गया। यह घोषणा-पत्र मार्क्स के मननशील मस्तिष्क के वर्षों के अध्ययन और ऐंगेल्स की कर्मशील बुद्धि का निचोड़ है। किवनेट ने कहा है—यदि ये दूसरी रचना न भी करते तो इसी कृति से संसार में अमर हो जाते।

१८४८ की फरवरी में भी योरोप में क्रान्ति की आग भड़क उठी। फ्रांस में पुराने शासन का तख्ता उलट गया और नई अस्थायी सरकार की स्थापना हुई। बेल्जियम की जनता में भी क्रान्ति के पूर्ण लक्षण दिखाई देने लगे अतः भावी परिवर्तन की आशंका से बेल्जियम की सरकार ने मार्क्स को देश के बाहर निकाल दिया। इसी समय मार्क्स को फ्रांस की अस्थायी सरकार का बुलावा मिला और मार्क्स ने यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

१ जून १८४८ में "नोय राइनिशेन्साइटुङ् (न्यू राइनिश जीटुङ्ग) की नींव डाली। इसने सम्राट् और सम्राट् के प्रतिनिधि से लेकर पुलिस के सिपाही तक की खबर ली। सरकार की वक्र दृष्टि इस पर पड़ी और दमन आरंभ हो गया। इस दमन का सामना करने में मार्क्स को गहरी आर्थिक हानि पहुँची। उन्होंने अपनी सारी जायदाद बेच कर इस कर्ज को चुकाया। १८४६ में यह पत्र सरकार ने बन्द करवा दिया। अतः मार्क्स पेरिस गये। वहाँ रंग बदल गया था। क्रान्तिकारियों का बोलबाला था। अतः १३ जून १८४६ को उन्हें फ्रांस सरकार का आदेश मिला कि या तो वे ब्रिटनी के निर्जन प्रदेश में चले जावें या फ्रांस छोड़ दें। उन्होंने फ्रांस छोड़ना ही पसन्द किया और लन्दन चले गये। लन्दन में आपने शेष जीवन के चौंतीस वर्ष व्यतीत किये।

लन्दन में मार्क्स के कार्य

मार्क्स का लन्दन-वास उसके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण समय है। इसी समय मार्क्स ने ब्रिटिश म्यूजियम में अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन किया और विश्व को अमूल्य वस्तु प्रदान की। पहले तो आपने अपने पत्र के प्रकाशन का प्रयत्न किया किन्तु फिर इस प्रयत्न से विरत होकर

दस वर्ष तक ब्रिटिश म्यूजियम में अर्थशास्त्र पर उपलब्ध विशाल सामग्री का गंभीर अध्ययन किया। अपना खर्चा चलाने के लिए आप "न्यूयार्क ट्रिब्यून" में लेख भी लिखते रहे। वहाँ आपके लेखों का आदर हुआ और योरोप तथा एशिया की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों पर आपके अग्रलेख प्रकाशित हुए।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का पहला फल १८५९ में 'अर्थशास्त्र की समालोचना, भा० १" के नाम से प्रकाशित हुआ। न्यूयार्क ट्रिब्यून से उचित रुपया नहीं मिलने के कारण इनको आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। १८६२ के लगभग इन्होंने रेलवे में क्लर्की का प्रयत्न किया किन्तु विफल रहे। १८६७ के लगभग जर्मनी के शासकों ने उन्हें सवैतनिक संवाददाता बनाना चाहा परन्तु सिद्धान्तों पर अटल रहने वाला मार्क्स कैसे स्वीकार करता! उसने तो इटली के युद्ध के समय लन्दन में प्रकाशित जर्मन पत्र "दास फोल्क" में बोनापार्टिज्म और उस समय की जर्मन नीति की आलोचना की।

समस्त कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए भी मार्क्स का अध्ययन चालू रहा। अत्यधिक अध्ययन के कारण वह फिर बीमार हो गये। फिर भी कुछ ठीक होते ही अध्ययन आरंभ कर दिया। इस प्रकार कठिन परिश्रम के पश्चात् १८६७ के अन्त में हाम्बुर्ग में मार्क्स की मुख्य कृति "कैपिटल" (पूँजी) का प्रकाशन हुआ। इस ग्रंथ में वर्तमान समाज व्यवस्था, आर्थिक ढाँचे की आलोचना करते हुए उन्होंने आर्थिक समाजवादी कल्पनाओं के आधार की व्याख्या की।

अब मार्क्स की आर्थिक स्थिति भी सुधर गई थी। एक मृत सम्बन्धी की कुछ पूँजी मिल गई और उनके मित्र विलियम फोल्क ने मरते समय अपनी सम्पत्ति मार्क्स के नाम पर कर दी; साथ ही ऐंगेल्स नियमित रूप से आर्थिक सहायता करने लगा। अतः मार्क्स को अध्ययन तथा सामाजिक कार्यों के लिए काफी समय मिलने लगा।

इस समय तक विभिन्न देशों में मजदूर आन्दोलन प्रगति कर चुके थे। अतः अब अवसर था कि श्रमजीवियों की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की

स्थापना की जाए। अप्रैल १८६४ में फ्रांस के मजदूरों का एक प्रतिनिधि-मंडल इंग्लैंड आया और इसने अमेरिकन, जर्मन, पोलिश और अंग्रेज प्रतिनिधियों से सलाह करके यह निश्चय किया कि इस प्रकार की संस्था की शीघ्र ही स्थापना की जाए और इसकी आरंभिक व्यवस्था का भार मार्क्स को सौंपा गया। इसके पाँच महीने बाद ही सेंट मार्टिन हाल लन्दन में २८ सितम्बर १८६४ को एक सभा हुई। इसी समय "अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सभा" की स्थापना की गई। इसमें मार्क्स ने फ्रांस का प्रतिनिधित्व किया।

इस संगठन में मार्क्स ने काफी कार्य किये। घोषणा पत्र और विधान ही नहीं समय समय पर प्रकाशित होने वाले संभाषण भी मार्क्स द्वारा ही तैयार किये जाते थे।

१८७० में जर्मन-फ्रांस युद्ध में फ्रांस की हार से लाभ उठा कर वहाँ ४ सितम्बर को प्रजातंत्र की स्थापना की गई। मार्क्स प्रतिक्रियावादी क्रान्तिकारियों से सहमत न थे। उन्होंने भरसक स्वार्थी और उपद्रवी लोगों से इस संगठन को दूर रखने का प्रयत्न किया। वह यह भी चाहते थे कि क्रान्तिकारियों से फ्रांस को विदेशी आक्रमणों से बचाना चाहिए। परन्तु मार्क्स की इच्छा के विपरीत 'पेरिस कम्यून' की स्थापना हुई। यह अधिक नहीं टिक सका और दो महीने के भीतर ही पूँजीपतियों की शक्ति ने उसका नाश कर दिया। कानून की स्थापना और उसके कार्यों का प्रभाव 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सभा' पर भी पड़ा और लोग उसे भी क्रान्तिकारियों की सभा समझ कर सन्देह की दृष्टि से देखने लगे।

अन्तिम समय

मार्क्स दिन भर तो पुस्तकालय में बन्द रह कर पढ़ा करते और रात को घर आकर लिखने का कार्य करते। वह प्रतिदिन सोलह घंटे तक काम करते थे। इसका असर बुरा हुआ और मार्क्स का शरीर कई प्रकार के रोगों का घर बन गया। हेग कांग्रेस के बाद उन्होंने इतना समय तो निकाल लिया कि "कैपिटल" के शेष दो भागों के लिए सामग्री एकत्र कर ली और दूसरे भाग की रूप रेखा भी तैयार कर ली।

मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार जूल्स गुडे, हेवरी हाइन्डमैन, वेलफोर्ट वैक्स आदि साम्यवादी नेता जोर शोर से कर रहे थे परन्तु स्वयं मार्क्स मृत्यु के निकट थे। खाँसी, फेफड़ों की जलन, दमा आदि अनेक रोगों ने उसके शरीर को जर्जर कर दिया था। इसी समय उनकी पत्नी चल बसी। मार्क्स पत्नी को बहुत प्रेम करते थे। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही अच्छा था। आर्थिक कठिनाई के दिनों में भी पत्नी धैर्यपूर्वक मार्क्स को उत्साह दिलाती रही थी। अपनी जीवन-सहचरी के असामयिक और आकस्मिक वियोग से मार्क्स के हृदय में गहरा आघात पहुँचा। यदि ऐंगेल्स ने न बचाया होता तो जिस समय उनकी पत्नी की लाश दफनायी जा रही थी वे कब्र में कूद कर प्राणान्त कर देते। २ दिसम्बर १८८१ को तो उनकी पत्नी का देहान्त हुआ और १४ मार्च १८८३ के दिन, दिन के पौने तीन बजे मार्क्स भी अपने सिद्धान्तों की देन देकर, विश्व के श्रमजीवी वर्ग को स्वर्ग का आदर्श देकर चल दिये।

मार्क्स की समाधि पर ऐंगेल्स ने कहा—"१४ मार्च को दोपहर को पौने तीन बजे संसार के सबसे बड़े विचारक की चिन्तन क्रिया बन्द हो गई। उन्हें मुश्किल से दो मिनिट के लिए अकेला छोड़ा गया होगा, लेकिन जब हम लोग लौट कर आये तो देखा कि वह आरामकुर्सी पर, शान्ति से सो गये हैं—परन्तु सदा के लिए। इस मनुष्य की मृत्यु से योरोप और अमरीका के लड़ाकू सर्वहारा वर्ग और ऐतिहासिक विज्ञान की क्षति हुई है। इस ओजस्वी आत्मा के विछोह से जो अभाव पैदा हो गया है, लोग शीघ्र उसका अनुभव करेंगे।"

मार्क्स की देन

मार्क्स एक बहुत बड़े वैज्ञानिक, क्रान्तिकारी और दार्शनिक थे। इतिहास और अर्थशास्त्र के मंथन से उन्होंने मानव इतिहास में विकास के सिद्धान्त का और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का नवनीत प्राप्त किया और विश्व के हित के लिए उसे दे गये। मार्क्स ने बतलाया कि राजनीति, धर्म, कला, विज्ञान सबकी नींव अर्थ पर खड़ी है। तमाम हलचल, गति और

विकास की जड़ में अर्थ काम कर रहा है। अतिरिक्त मूल्य का पता लगा कर अर्थशास्त्री और समाजवादी समालोचकों की उन्होंने एक उलझन सुलझा दी। उन्होंने उस विशेष नियम का पता लगाया जिससे उत्पादन की पद्धति और उस पद्धति से पूँजीवादी समाज दोनों ही नियंत्रित हैं। मार्क्स ने युद्ध और शान्ति, क्रान्ति और प्रतिक्रिया, जन्मावरोध और द्रुतविकास के मूल में एक सूत्र खोज निकाला और यह सूत्र था वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स ने लिखा—"अब तक के विद्यमान समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" जिसमें ऐंगेल्स ने जोड़ दिया "आदिम जन-समुदाय को छोड़कर"।

मार्क्स अपने समय के बहुत बड़े विचारक थे। उन्होंने गम्भीर अध्ययन, मनन और चिन्तन के बाद संसार को जो सिद्धान्त दिये वे काफी महत्त्वपूर्ण हैं। सबसे बड़ा लाभ यदि व्यावहारिक रूप में हुआ है तो वह यह है कि श्रमजीवी वर्ग को भी मानवता की मान्यता प्राप्त हुई और उसका भविष्य जाज्वल्यमान हुआ। मार्क्स का नाम और काम दोनों सदा अमर रहेंगे।

९ : महात्मा टाल्सटाय

राजकीय सुख, वैभव, विलास अधिकार, उच्छृंखलता और दर्प के वातावरण में जगत हित करने वाली महान् आत्माओं का जन्म अपवाद स्वरूप ही होता है। इस वातावरण में तो वासना के कीड़े और दर्प की प्रतिमा ही सरलता से गढ़ी जा सकती है। परंतु टाल्सटाय उन विभूतियों में से थे जो विरोधी वातावरण में भी अपनी ज्ञान-ज्योति को प्रसारित कर सके। जारशाही के जमाने में सरदारों का आदर राजपुत्रों से कम नहीं था। उनका समय आखेट, उन्मुक्त विहार, विलास, असहायों पर अत्याचार करने में ही व्यतीत होता था। मानवता, दार्शनिक चिन्तन, समाज सेवा, दया, करुणा, साहित्यानुराग जैसी उदात्त

वृत्तियों के लिए उनके हृदय द्वार अवरुद्ध थे। टाल्सटाय के पिता निकोलस इसी वर्ग में से थे। उन्होंने अपने परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत दृढ़ कर ली थी। उनकी अपार सम्पत्ति ने टाल्सटाय के सम्मुख भारी प्रलोभन उपस्थित किया।

जन्म और बचपन

टाल्सटाय का जन्म रूस देश में टूला के निकट यासनाया पोलयाना नामक ग्राम में २८ अगस्त, १८२८ ई० को हुआ था। इनके माता-पिता दोनों ही उच्च घराने के थे। इनका पितृ वंश सम्राट् पीटर से सम्बन्धित था

और माता राजकुमारी मेरी बालकन्स की बहुत प्रतिष्ठित परिवार की थी। माता बच्चों के पालन-पोषण में और उन के संस्कारों के निर्माण में काफी सतर्क थी। पिता का तो अधिकांश समय भोगविलास और शिकार में ही व्यतीत होता था परन्तु माता अपने बच्चों की देख-रेख स्वयं करती थी लेकिन रवीन्द्रनाथ के समान इनकी माता भी इन्हें अधिक दिन तक ममत्व न दे सकी और दो वर्ष के बालक टाल्सटाय को छोड़ कर स्वर्गवासी हो गई। अब ये पिता की देखरेख में अपना बचपन बिताने लगे। धीरे-धीरे पिता के समान इन्हें भी आखेट में आनन्द का अनुभव होने लगा, यात्रा और रईसों के समान आनन्द के अवसरों में उनका समय बीतने लगा। किन्तु नौ वर्ष की अवस्था में टाल्सटाय के पिता भी चल बसे अतः टाल्सटाय के पालन-पोषण का भार उनकी चाची पर पड़ा। ये दयाशीला थी। किन्तु वास्तव में तो टाल्सटाय सहित पाँचों नाबालिग बच्चों की अभिभाविका टटियाना यरगोल्सकी नामक उदार और सच्चरित्र महिला की देख-रेख में रहे। यह महिला टाल्सटाय के पिता पर आसक्त थी और टाल्सटाय के पिता भी उससे विवाह करना चाहते थे; किन्तु एक उच्चवंश की कन्या से विवाह कराने के लिए उसने उनसे विवाह नहीं किया। जब टाल्सटाय कीमाता की मृत्यु हो गई तो उसके विवाह में कोई बाधा नहीं थी लेकिन फिर भी उसने इस कारण विवाह नहीं किया कि विवाह कर लेने से पिता की अपने बच्चों के प्रति उपेक्षा हो जाएगी और वे अपनी पहली पत्नी को भूल जाएँगे। इस प्रकार का आदर्श त्याग और सेवा की भावना बहुत कम लोगों में पाई जाती है। यह चाची टाल्सटाय पर बहुत प्रेम करती थी। उसके प्रेम पूर्ण व्यवहार ने टाल्सटाय के मातृ पितृ विहीन सूखे जीवन में प्रेम के आनन्द का स्रोत बहाया। वे प्रेम का आनन्द समझने लगे। इनका शान्त तथा एकान्त जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ गया। किन्तु यह देवी भी बहुत समय तक जीवित नहीं रह सकी। उसकी मृत्यु के बाद एक दूसरी चाची जशकौव अभिभाविका बनी। किन्तु ये अभिभाविका क्या बनी मानों टाल्सटाय परिवार की अतुल सम्पत्ति इन्हें मौज

उड़ाने और दावतें देने के लिए मिल गई। इनके व्यवहार की उपेक्षा और उदासीनता से टाल्सटाय के किशोर-हृदय पर गहरी चोट पहुँचती थी।

बचपन में टाल्सटाय के जीवन में कोई ऐसे लक्षण नहीं दीखते थे कि जिनसे इनके इतने बड़े आदमी होने का अनुमान लगाया जा सकता। देखने में ये सीधे-साधे मालूम होते थे यद्यपि इनकी चाल-ढाल में शरारत कूट-कूट कर भरी थी। परन्तु, इनका एक लक्षण बचपन से ही स्पष्ट था। वह था—गम्भीर-विचार सागर में गोते लगाना। ये घण्टों अकेले बैठे-बैठे कुछ न कुछ सोचा करते। यह चिन्तन की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गई।

एक दिन टाल्सटाय, जब कि उनकी आयु लगभग ग्यारह वर्ष की थी,—एकान्त में बैठकर सुख-दुःख का विचार कर रहे थे। विचार करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जीवन का परिणाम मृत्यु ही है। सबको एक न एक दिन मरना ही पड़ता है। बस फिर क्या था इस व्याकुल-हृदय बालक ने पुस्तकें पटक दी और निश्चय किया कि जीवन में खाना-पीना और मौज उड़ाना बस यही आनन्द है। किन्तु इनका सा भावुक हृदय अधिक समय तक इस प्रकार के विलास में नहीं रम सकता था। अतः फिर अध्ययन की ओर इनकी रुचि हो गई। किन्तु टाल्सटाय को स्कूल की शिक्षा से घृणा थी। उनकी स्वतंत्रता प्रेमी आत्मा स्कूल के कड़े नियमों के विरुद्ध सदैव विद्रोह करती थी। इन्हें ईसाई धर्म के केथोलिक सम्प्रदाय में अपार भक्ति थी और ये प्रभु-ईशु में अपार श्रद्धा रखते थे।

जिस प्रकार एकान्त चिन्तन और मनन से इनका मस्तिष्क पुष्ट होता जा रहा था उसी प्रकार व्यायाम की अभिरुचि ने इनके शरीर को स्वस्थ सुन्दर और दृढ़ बना दिया।

टाल्सटाय के बाल्यकाल की एक बात और जानने योग्य है। ये बाल्यावस्था से ही अपने भाई-बहन और पड़ौसियों से प्रेम करते थे। उनके अपने बड़े भाई निकोलस से बहुत पटती थी। बचपन से ही ये चाहते थे कि संसार में शान्ति रहे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारी पृथ्वी एक परिवार है और सब मनुष्यों को भाई-भाई के समान प्रेम से रहना चाहिए—यह भावना टाल्सटाय के मन में बराबर उठा करती थी। इस भावना से

प्रेरित होकर ही उन्होंने छोटी उम्र में ही 'आंट ब्रदर्स' नामक एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य विश्व कल्याण और संसार को भ्रातृ स्नेह के सूत्र से बाँधना था। इस संस्था की स्मृति में पहाड़ी पर पेड़ की एक हरी डाली रोपी गई।

कालेज जीवन और पतन

टाल्सटाय तथा उनके भाई विद्याध्ययन के लिए काजन के विश्व-विद्यालय में भेजे गये। टाल्सटाय जैसे कुशाग्र बुद्धि बालक के लिए यह जीवन सबसे सुखमय हो सकता था परन्तु बात विपरीत ही हुई। काजन का विश्वविद्यालय बड़े-बड़े रईसों के लिए था। वहाँ होटल, क्लब, नाटक, नाचघरों आदि का काफी प्रबन्ध था। अतः अमीरों के बच्चों के सारे दुर्व्यसन टाल्सटाय के जीवन में आ गये। इन्हीं दिनों आपके मन में प्रेम की आग भी सुलग गई और इस कारण आपने पूजीनसेन और ह्यूम के उपन्यासों को पढ़ डाला। भोग-विलास में पड़कर टाल्सटाय का नैतिक पतन हो गया। आपने अपने इस नारकीय जीवन की कहानी 'यूथ' नामक ग्रंथ में चित्रित की है। किस प्रकार यौवन के आवेश में, धन और कुसंगति का साथ होने से मानव भटक जाता है, यह जानने लिए इस ग्रंथ को पढ़ना चाहिए।

टाल्सटाय ने पहले राजदूत बनने के विचार से पूर्वी देशों की अरबी और तुर्की जैसी कठिन भाषाओं का अध्ययन आरम्भ किया। किन्तु इन भाषाओं में विशेष मन न लगने के कारण इस प्रयत्न को छोड़ कर ये कानून का अध्ययन करने लगे। परन्तु जर्मन अध्यापक महोदय टूटी-फूटी रूसी जानते थे अतः पढ़ने की अपेक्षा आपका ध्यान उसकी हँसी उड़ाने में ही अधिक लगा। इतिहास की ओर आपकी रुचि उत्पन्न हुई किन्तु इतिहास के अध्ययन में आपको कुछ महत्त्व नहीं दिखा। धर्मशास्त्र की ओर आपका आकर्षण हुआ परन्तु बचपन का कट्टर आस्तिक टाल्सटाय युवक होने पर धर्म में अविश्वास करने लगा था। उनके ही शब्दों में—"बचपन से मेरे हृदय में जो विश्वास भर गया था वह क्रमशः विलीन हो गया। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में जब मैंने दार्शनिक ग्रन्थों को पढ़ना शुरू किया

तब मुझे अविश्वास का पता चला। १६ वर्ष की अवस्था में मैंने प्रार्थना करना बन्द कर बाद में धीरे-धीरे गिरजाघर जाना और व्रत रखना भी बन्द कर दिया।"

इस प्रकार टाल्सटाय का कालेज जीवन द्विविधा में ही समाप्त हो गया। वे अध्ययन के क्षेत्र में विशेष उन्नति न कर सके और कालेज छोड़कर पेट्रोग्रेड चले गये। यहाँ का जीवन बहुत बुरा और घृणित रहा। यहाँ इन्होंने युद्धों में नर-हत्याएँ की, द्वन्द्व-युद्ध किये। जुआ खेला दुराचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखा और धोखेबाजी, ठगबाजी सभी कुछ किया। इस प्रकार के नारकीय-जीवन में उन्होंने अपने जीवन के दस वर्ष बिताये। इस जीवन का वर्णन करते हुए महात्मा टाल्सटाय ने लिखा है—"...... मैंने युद्ध में मनुष्यों के प्राण लिये, दूसरों को कत्ल करने के लिए द्वन्द-युद्ध किये, मैं ताश में हारा, किसानों की मेहनत से कमाये हुए रुपये को बर्वाद किया, आवारा औरतों के साथ आनन्द किया, झूठ बोलना, डाका डालना आदि एक भी पाप मैंने न छोड़ा ; फिर भी, मैं अपनी बराबरी वालों में सदाचारी ही समझा जाता था।"

ये वही महात्मा टाल्सटाय हैं जो विश्व की महान् विभूतियों में माने जाते हैं।

जीवन में परिवर्तन

जार का शासन काल किसानों के लिए महा नर्क था। किसानों के पसीने की कमाई पर सरदारों की शराब उड़ती थी, उनकी हड्डियों तक को निचोड़ कर वसूल किये गये रुपयों से महल खड़े किये जाते थे और किसान भूखा नंगा और मिमियाता ही रह जाता था। अतः रूस में समय समय पर अकाल पड़ते थे। १८४६ में भीषण अकाल पड़ा। इस समय टाल्सटाय में ग्राम-सेवा का जोश उमड़ा पड़ रहा था, पुस्तकों के द्वारा उन्हें काफी प्रेरणा मिल चुकी थी अतः छः माह तक ये किसानों की सेवा में लगे रहे। किन्तु, इन्हें इस कार्य में विशेष सलफता नहीं मिली। फिर भी इनके मन में किसानों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया, इन्हें किसानों

की दयनीय दशा का अनुभव हो गया। आज रूस तो किसानों का स्वर्ग हो गया है। उसके शिलारोपण करने वाले टाल्सटाय ही थे।

टाल्सटाय के भाई निकोलस एक सेना में कप्तान थे। ये उनके पास चले गये। फिर परिवार वालों के आग्रह से सेना की प्रारंभिक शिक्षा लेकर आप तोपखाने के साथ काकेशस चले गये। वहाँ टाल्सटाय का देश-प्रेम जाग उठा। उन्हें भयंकर से भयंकर काम करने में आनन्द का अनुभव होने लगा। कई बार अपनी इस आदत के कारण वे मौत से बाल-बाल बचे।

सिवास्टोपोल में मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लड़ने में आपने अद्भुत शौर्य तथा योग्यता का परिचय दिया। चारों ओर भयानक गोलाबारी हो रही थी। मित्रराष्ट्रों की सेना बढ़ी चली आ रही थी। परन्तु निर्भीक टाल्स-टाय घायल सैनिकों की सेवा सुश्रूषा करते फिरते थे और उन्हें उत्साहित करते रहते। चारों ओर आहत रूसी सैनिकों के ढेर हो रहे थे। आखिर यहाँ रूसी सेना की हार हो गई।

सिवास्टोपोल में ही पहली बार इनके विचारों में क्रान्ति हुई। उन्होंने सिवास्टोपोल के अस्पताल में बाइस हजार व्यक्तियों को तड़पते, छटपटाते देखा, जो कि युद्ध की पाशविकता के शिकार हो चुके थे। इस युद्ध में वे इन सैनिकों के त्याग और वीरतापूर्ण कृत्यों को अपनी आँखों से देख चुके थे किन्तु उसका यह परिणाम उनसे न देखा गया। उनकी आत्मा कराह उठी। इस दृश्य ने उनके जीवन की दिशा को ही बदल दिया। इस दृश्य को देखकर महावीर समाट् अशोक का ध्यान आ जाता है। आज के लगभग दो हजार वर्ष पूर्व कलिंग के युद्ध में हजारों लाखों मनुष्यों के रक्त की नदी बही थी, विलाप, पीड़ा, कराट और छटपटाहट ने महावीर सम्राट् अशोक को प्रियदर्शी अशोक बना दिया। साम्राज्य-लोलुपता, धर्मप्रचार में, सत्य प्रचार में परिवर्तित हो गई। हिंसा अहिंसा में बदल गई। भयंकर मौत के प्रतीक शस्त्रों का स्थान धर्म-चक्र ने ले लिया। पशु बल का घमंडी मानवता का पुजारी हो गया। उसके प्रेम ने एक बार सम्पूर्ण विश्व को धर्म की ध्वजा में लाने का प्रयत्न

किया। लाखों व्यक्तियों को सन्मार्ग मिला। यही परिवर्तन टाल्सटाय में हुआ। दोनों 'महान्' हो गये, 'अमर' हो गये। अन्तर इतना ही था एक ने अपने विचारों को सम्राट् की हैसियत से शिला-लेखों, प्रचारकों, दान आदि के द्वारा प्रचारित किया और टाल्सटाय की लेखनी ने वह कार्य किया। बस साधन मात्र ही अलग थे। टाल्सटाय ने प्रकाश प्राप्त किया और पश्चिम के करोड़ों व्यक्तियों को प्रकाश दिया।

सन् १८६० में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया। अपने विदेश प्रवास में उन्होंने पेरिस में एक व्यक्ति को फाँसी दिये जाते हुए देखा। इस हृदय-विदारक दृश्य का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस प्रकार विलासी जीवन के प्रति घृणा, युद्ध की भयानकता, फाँसी और मृत्यु ने उनके विचारों में क्रान्ति मचा दी। उनके हृदय में सत्यान्वेषण की भावना प्रबल हो गई और इस कार्य में आप जुट गए। बस यही उनके आदर्श जीवन की, नवीन जीवन की और महात्मापन की भूमिका है।

लेखन कला का प्रकाश

रूसी तोपखाने में तीन वर्ष कार्य करने के एक वर्ष बाद १८५२ में हीं आपका 'बचपन' नामक पहला उपन्यास प्रकाशित हुआ। इससे आपकी काफी प्रशंसा हुई। रूस की सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तिका 'सोरेमेनिक' में आपकी रचना प्रकाशित हुई। यह आपकी प्रतिभा का सर्वोच्च प्रमाण है।

सिवास्टोपोल की भयानक गोलन्दाजी में समय बचा कर आपने वह पुस्तक लिखी जिसने इनके लिए अपार ख्याति और रूसी जनता का प्रेम उत्पन्न कर दिया। उस पुस्तक का नाम था 'सिवास्टोपोल की कहानियाँ'। जार का ध्यान भी इस पुस्तक के कारण इनकी ओर आकर्षित हुआ। सम्राट् की आज्ञा से आपको खतरे के स्थान से हटा लिया गया। जब आप सेंट पीटर्सबर्ग में पहुँचे तो आपका भव्य स्वागत किया गया। रूस के उपन्यास सम्राट् आइवन तुर्गनेव ने भी आपका स्वागत किया और अपने घर मेहमान बनने की प्रार्थना की।

इसके बाद टाल्सटाय के विचारों में युद्ध के कारण काफी परिवर्तन हो गया था। उन्हें अपनी रचनाओं से संतोष नहीं था। वे साहित्य को

पिटी-पिटाई लकीर पर चलाने के हिमायती नहीं थे। इस कारण उनके मन में अशान्ति हो गई। उन्होंने लिखा है—"......इस समय मैंने लिखना शुरू किया। अपनी रचनाओं के लिए यश पाने के लिए मुझे अच्छी बातें छिपाकर गन्दी बातें लिखनी पड़ती थीं।" वे साहित्यकों की उपदेश प्रणाली और कथनी करनी के अन्तर से ऊब गये। नवीन विचारों के कारण आप क्रान्तिकारी समझे जाने लगे और लेखक समुदाय से आपका तीव्र मतभेद हो गया। तुर्गनेव से भी आपकी मित्रता स्थिर नहीं रह सकी। फिर भी कई प्रसिद्ध सम्पादक, पत्रकार, नाटककार और चिन्तक आपके घनिष्ट मित्र थे।

१८५७ से १८६१ के भीतर टाल्सटाय ने तीन बार विदेश यात्रा की। इसके बाद ये कभी बाहर नहीं गये। परन्तु अपनी इन तीन यात्राओं में इन्होंने योरोप की सामाजिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक स्थिति का अच्छा अध्ययन कर लिया।

टाल्सटाय को आरम्भिक शिक्षा के लिए किंडरगार्डन प्रणाली बहुत पसन्द आई। आप इस प्रणाली के जन्मदाता, विश्वविख्यात शिक्षाशास्त्री फ्रोवेल से भी मिले थे।

रूस में भी आपने १८६१ में बच्चों के लिए स्कूल खोले। यहाँ बच्चों को आने-न-आने, पढ़ने-न-पढ़ने, इच्छानुसार विषय निर्वाचन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। सरकार को भी इन स्कूलों पर सन्देह हुआ। सरकार के शिक्षा विभाग ने शिक्षकों को डरा धमका कर खींच लिया, अन्य उपायों से छात्रों की संख्या कम करवा दी। इस कारण से तंग आकर टाल्सटाय के वे स्कूल बन्द करने पड़े। टाल्सटाय का विचार था कि पढ़ना लिखना मनुष्य के जीवन-निर्माण और मस्तिष्क के विकास में विशेष सहायक नहीं है। वह तो उन्हें अधिक स्वच्छ बना देते हैं। शिक्षा, जीवन की सच्ची शिक्षा तो जनता से मिलती है।

दरिद्र नारायण की सेवा

इन्होंने अपनी रियासत में जाकर किसानों की सेवा का कार्य आरंभ किया। लेखन कार्य तो जब से स्कूल आरम्भ किये थे, बन्द ही था।

इन्होंने किसानों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करना आरम्भ किया, उनकी दरिद्रता का अनुभव करके आप सिहर उठे और आजीवन उनके सेवक बने रहे। जब-जब किसानों और सरदारों के बीच झगड़ा उपस्थित होता आप सदा किसानों का पक्ष लेते।

एक बार एक लाइन पर ५०० कैदी काम कर रहे थे। इनकी देख-रेख के लिए एक क्रूर अफसर था। इसके मातहत एक पढ़ा लिखा सिपाही था। उस समय यह कानून था कि जो व्यक्ति सेवा से हटना चाहता हो वह किसी मित्र को उसकी जगह नियुक्त करवा कर हट सकता था। यह युवक भी अपने एक मित्र के स्थान पर आया था। इस युवक को अफसर ने एक साधारण सी भूल पर कोड़े लगाने की आज्ञा दी। इस अपमान से युवक क्रुद्ध हो गया और उसने अफसर को चाँटा मार दिया। निरपराध दंड ने उसे पागल बना दिया था। यह दलील देकर टाल्सटाया ने उसे बचाने की बहुत कोशिश की। टाल्सटाय को काफी डराया-धमकाय गया किन्तु वह तो न्याय का समर्थन करता ही गया। फिर भी इस नवयुवक को गोली से उड़ा दिया गया। इस अन्याय से टाल्सटाय के हृदय को गहरा आघात पहुँचा।

वे शिक्षा को बुराइयों की जड़ मानते थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"मैंने एक बार एक अशिक्षित किसान यात्री की बातें सुनीं। उसने ईश्वर, भक्ति, जीवनोमुक्ति और ऐसे ज्ञान की बातें कीं जिनसे मुझे यह प्रत्यक्ष दीख पड़ा कि भक्ति क्या है। किन्तु, ज्योंही मैं पढ़े लिखे विश्वास करने वालों के संग मिला या मैंने उनकी किताबों को देखा त्यों ही अशान्ति तथा विरोध मेरे मन में उत्पन्न हो गया।"

इन्होंने इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति 'कोजाक्स' नामक पुस्तक में की है। १८६१ के बाद के दस वर्ष तक आप विचार-संदेह सागर में डुबकियाँ लगाते हुए वास्तविकता की खोज में व्यस्त रहे। आपके विचारों की क्रांति का मूल कारण ही अविश्वास और अश्रद्धा है।

विवाह और संतान

आपका विवाह सन् १८६२ ई० में सोफिया बेटर्स नामक युवती से

हुआ। विवाह के बाद आपका जीवन आनन्दपूर्ण रहा। कुछ समय तक समस्त सन्देह, अविश्वास, दुःख, प्रेम के प्रवाह में बह गये। उन्होंने विवाह के दो सप्ताह बाद ही अपने एक मित्र फेट को लिखा—"मैं अब प्रसन्न हूँ, मैं अब एकदम नया आदमी हो गया हूँ।" सन् १८६३ में टाल्सटाय की प्रथम सन्तान हुई। इसके बाद १८ वर्षों में १३ बच्चे हुए। बच्चों की शिक्षा के लिए अंग्रेज और जर्मन धायें रखी गईं। स्वयं टाल्सटाय उनके शिक्षण में काफी समय देते थे। बच्चों की शिक्षा में कुछ कसर न रही और पारिवारिक जीवन बड़ा सुखी और आनन्दमय था।

लेखन प्रतिभा—टाल्सटाय ने १८ वर्ष अपने परिवार के साथ ग्राम में बिताये। ये उनके जीवन के सबसे सुखी वर्ष थे किन्तु इन दिनों में आनन्द में अपने को भूल ही नहीं गये। इस समय के भीतर ही उन्होंने अपने दो उपन्यास प्रकाशित करवाये—'युद्ध और शान्ति' तथा 'एना करीना'। इन दो ग्रन्थों के रचना कौशल की सारे योरोप में धूम मच गई। अभी तक के जो ग्रंथ प्रकाशित हुए थे, वे उपन्यासी घटनाचक्र में बँधे हुए नहीं थे। टाल्सटाय को अपने लेखन सम्बन्धी कार्य में अपनी पत्नी से बहुत सहायता मिली। इनका लेखन अच्छा नहीं था अतः प्रेस के लिए उनके ग्रन्थों की शुद्ध और सुन्दर पांडु-लिपि तैयार करने का काम उन्हीं का था।

दार्शनिक प्रभाव—टाल्सटाय के जीवन में काफी परिवर्तन हो चुका था। वे ५० वर्ष के हो गये थे। दो यूरोप के बड़े-बड़े साहित्यिक उनकी लेखनी का लोहा मानते थे। उनके पास काफी सम्पति थी, कीर्ति थी, परिवारिक-जीवन सुखमय था फिर भी उनके अन्तःस्थल में अशान्ति मची रहती थी। उन्हें सन्तोष नहीं था। जीवन की निस्सारता पर उन्हें विश्वास सा होने लगा था। यद्यपि विवाह करने के बाद कुछ समय के लिए युवावस्था में उत्पन्न सन्देह निरोहित हो गया परन्तु पुनः वह अपना उलझा हुआ रूप लेकर आ खड़ा हुआ। ज्यों-ज्यों ये जीवन सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते वे और उलझती जातीं थी। 'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की' वाली कहावत चरितार्थ हुई। कई बार तो व्याकुल होकर उन्होंने आत्महत्या तक करने का विचार किया। इस

बीच ही उन्हें दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन की इच्छा हुई। उन्होंने प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार का अध्ययन किया। उसके विचारों से वे बहुत प्रभावित हुए और यहाँ तक कह डाला कि "संसार में सबसे बड़ा विद्वान यही है।"

टाल्सटाय ने "जीवन क्या है ? इसका रहस्य क्या है ? मैं क्यों जीता हूँ ? मैं और मेरी इच्छाएँ क्या हैं ?" आदि प्रश्नों पर गम्भीर मनन किया। इन प्रश्नों के कारण जो भीषण अन्तर्द्वन्द्व इनके मन में उपस्थित हो गया उसका बड़ा रोचक वर्णन आपने "माई कन्फेशन" नाम की पुस्तक में किया है। बहुत विचार करने पर आपने जीवन का रहस्य परिश्रम और प्रेम में पाया। अपने चिन्तन से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवन में परिश्रम और प्रेम अत्यन्त आवश्यक है। सरल जीवन बिताना चाहिए। समाज से जितना लाभ हमको मिलता है प्रतिदान में उससे अधिक समाज की सेवा करनी चाहिए। सेवा में ही सच्चा आनन्द मानना चाहिए। अहं ही सेवा में बाधक है और अहं से ही मृत्यु का डर लगता है यदि अहं को, अपनेपन की संकुचित धारणा को त्याग कर सेवा में अपने आप को भुला दिया जाय तो जीवन आनन्दमय हो जायगा। फिर मृत्यु का भय भी नहीं रहेगा।

इस प्रकार जीवन का हल पाने के बाद उन्होंने व्यवहार में भी अपने सिद्धान्तों को लाना आरंभ कर दिया। उन्होंने अमीरी रहन-सहन को छोड़ दिया और एक कृषक के समान सरल, सादा और पवित्र जीवन बिताना आरंभ कर दिया। वे निरामिश भोजन करने लगे, किसानों के से कपड़े पहनते, खेतों में परिश्रम करते, कुदाला चलाते और यहाँ तक कि अपना जूता तक आप सीते थे। कम भोजन करना आरंभ कर दिया और सब प्रकार के मादक द्रव्यों का व्यवहार बन्द कर दिया। इस प्रकार इन्होंने सर्वस्व त्याग दिया।

टाल्सटाय की पत्नी यद्यपि विदुषी थी फिर भी वह टाल्सटाय के समान नैतिक स्तर पर नहीं उठ सकी थी। उसे यह सब सनक ही मालूम पड़ी। वह तो चाहती थी कि इनकी रचनाओं का पूरा स्वत्व परिवार

को मिले परन्तु टाल्सटाय का सिद्धान्त था कि उनकी पुस्तकें तो मनुष्य मात्र की सेवा के लिए हैं। उनका अधिक से अधिक प्रचार हो। टाल्सटाय को रुपया तो काटने को दौड़ता था। बस इसी मत वैभिन्य ने धीरे-धीरे भीषण रूप धारण कर लिया। यहाँ तक कि टाल्सटाय की पत्नी ने उन्हें तरह-तरह की यातनायें देना आरंभ कर दिया। कभी वह नंगे पाँव इनके दरवाजे पर रात भर खड़ी रहती, कभी आत्महत्या के लिये उधम मचाती, काफी कानूनी झगड़े उपस्थित करने का प्रयत्न करती। कहते हैं एक बार तो उसने सरकार से प्रार्थना की कि मेरा पति पागल है, उसे रियासत का प्रबंध करने में असमर्थ घोषित कर दिया जाय। वाह रे धन! लोभ मानव को कितना पतित बना देता है। टाल्सटाय की पत्नी के साथ ही सत्यवीर सुकरात की पत्नी की याद आ जाती है। सुकरात की पत्नी तो पति को कष्ट ही देती थी परन्तु टाल्सटाय की पत्नी तो इनकी मृत्यु का एक बहुत बड़ा कारण भी बनी।

अन्तिम समय

टाल्सटाय को जार की निरंकुशता से घृणा थी। उसका वर्णन उन्होंने अपनी "क्या करें?" नामक पुस्तक में किया है। उन्हें रूस के जीवन की विषमता देख कर दुख होता था। एक ओर अतुल सम्पत्ति व्यर्थ ही बन्द पड़ी हो और दूसरी ओर लाखों लोग भूखों मरते हों, यह इन्हें असह्य था। जनता ने भी इस स्थिति से निकलने का प्रयत्न किया। सरकार ने इस राजनीतिक क्रान्ति को दबाने का प्रयत्न किया। इन्होंने जारशाही की क्रूरता के विषय में एक मर्मभेदी पत्र लिखकर योरोप के प्रसिद्ध पत्रों में छपवाया। इससे सरकार की इन पर क्रूर दृष्टि हो गई।

अंतिम दिनों में इस महात्मा को भीषण यातना उठानी पड़ी। अंतिम वर्ष तो इतना दुःखदायी है कि उसका वर्णन पढ़ कर अन्तरात्मा काँप उठती है। परिवार वालों और विशेष कर पत्नी के दुर्व्यवहार, उस पर सरकार की वक्र दृष्टि, बाहरी और आन्तरिक यातना, इस कष्ट से मुक्ति पानें के लिए वे एक रात को अपनें एक विश्वासपात्र मित्र के साथ चल दिये। उस समय का दृश्य बड़ा ही करुण है—वयोवृद्ध टाल्सटाय

निमोनिया से पीड़ित रात के घने अन्धकार में घर से निकल पड़ा। बाहर बर्फ गिर रही था किन्तु यह वृद्ध बढ़ा चला जा रहा था। आखिर मन के उत्साह का शरीर ने साथ नहीं दिया और पास ही एक स्टेशन मास्टर के घर रुकना पड़ा। यहीं सन् १६१० में टाल्सटाय की मृत्यु हुई। मरते समय उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए कहा कि मुझे उसी पहाड़ी पर दफनाया जाय जहाँ मैंने अपने भाई के साथ विश्वबन्धुत्व का व्रत लेकर एक संस्था स्थापित की थी और उसकी स्मृति में एक हरी डाल रोपी थी। पादरी लोगों ने इनके अन्तिम संस्कार में भाग लेने से इन्कार कर दिया क्योंकि टाल्सटाय ने 'कयामत' नामक उपन्यास लिख कर कैथोलिक धर्म की धज्जियाँ उड़ाई थीं। अतः १६०१ में पादरियों ने फरमान निकाल कर इन्हें ईसाई धर्म से बहिष्कृत कर दिया था। इस प्रकार घर से 'उपेक्षित', साहित्य के क्षेत्र में स्वार्थी साहित्यकारों के शब्दों में 'विक्षिप्त', राज्य की दृष्टि में 'विद्रोही' और धर्म के ठेकेदारों की दृष्टि में 'काफिर' यह मानवता का पुजारी अपने विचारों की जीवनदायिनी सौरभ फैलाकर चल बसा। आज विश्व उस महापुरुष को मानता है। इस युग के महापुरुष महात्मा गांधी उन्हें गुरू मानते थे। युग-युगों तक उनके त्याग, तपस्या और सेवा सम्बन्धी उद्‌गार अनेकों के जीवन में परिवर्तन करते रहेंगे।

टाल्सटाय के दिव्य विचार

टाल्सटाय के विचार बहुत ही उच्च, पवित्र और सरल थे! उन्होंने जो लिखा था वह अपने अनुभव के आधार पर ही लिखा था। उनकी पुस्तकों में उनका हृदय निश्चल भाव से स्पन्दित होता-सा जान पड़ता है। कथनी और करनी में कुछ भी अन्तर न होने के कारण टाल्सटाय की पुस्तकों में उनके मानसिक द्वन्द और विचार परिवर्तन के क्रम भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। वर्तमान जीवन की विषमता से दग्ध, सभ्यता के बन्धनों से बद्ध और पुस्तकी ज्ञान के विषम ज्वर से पीड़ित मानवों की शान्ति और मुक्ति का सन्देश उन ग्रन्थों की पंक्ति-पंक्ति में गुंजित हो रहा है।

जैसा कि टाल्सटाय के जीवन-चरित्र से ज्ञात होता है उन्होंने परिश्रम

और प्रेम को जीवन का सार माना था और इसी से उन्हें शान्ति उपलब्ध हुई थी। उनका कहना था कि "यदि प्रत्येक व्यक्ति कृषि श्रम को अपना कर्तव्य मान ले, अर्थात् अपने श्रम से पैदा किये अन्न से निर्वाह करे तो मनुष्य में एकता और प्रेम बढ़ जाय और सारी यातनायें दूर हो जायँ ; क्योंकि जब सब अनाज पैदा करेंगे तो अनाज बिकने की चीज न रहेगा।" इतिहास इस बात का साक्षी है कि महायुद्ध के मूल में 'बाजार' प्राप्त करने की अदम्य लालसा ही रही है। अपने देश में उत्पन्न वस्तु का अधिक से अधिक निर्यात् हो, इस भावना ने न जाने कितना नर-संहार करवाया है। अतः टाल्सटाय ने कहा कि जब अनाज बिकने की चीज नहीं रहेगा, 'उस समय आदमी भूख से विकल होकर धोखा देकर या उद्दण्डता करके अपने पेट भरने का उद्योग न करेगा और जिस समय लोग संतुष्ट होंगे, उद्दण्डता और धोखेबाजी दुनिया से हट जायगी।' जब हम भूखे की सेवा करना चाहते हैं तो उस समय उसको उपान्यास पढ़ कर नहीं सुनाते। अन्न और वस्त्रहीन की सेवा के लिए हम उसके कानों में बहुमूल्य बालियाँ नहीं पहिनाते। इसी तरह मनुष्य मात्र की सेवा का यह हरगिज अर्थ नहीं हो सकता कि हम सन्तुष्ट व्यक्तियों को लें और व्यसन के समान पहुँचाएँ और भूखों और दरिद्रों को भूख के कारण मर जाने दें। टाल्सटाय का कथन था "जिनके पास दो कोट हैं वे एक कोट उसे दे दें जिसके पास एक भी नहीं है और जिसके पास भोजन है वह भी ऐसा ही करें।" वे संग्रह के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने जीवन भर अपरिग्रह का उपदेश दिया और स्वयं ने कठोरता से इस व्रत का पालन किया। वे इस संसार की वस्तु पर व्यक्तिगत अधिकार के विरोधी थे। उनके विचारों में ईशावस्योपनिषद के प्रथम मंत्र की स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है—

> "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यांजगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृध कस्य स्विद्धनम्॥"

उनका उपदेश था "इस पृथ्वी पर अपने लिए धन मत जमा करो ; क्योंकि उसे काई और कीड़े नष्ट कर देते हैं, अथवा चोर चुरा ले जाते

हैं। किन्तु तुम स्वर्ग में अपने लिए धन जमा रखो, जहाँ न काई लगती है, न कीड़े ही खाते हैं और न चोर ही दरवाजा तोड़ कर उसे चुरा ले सकते हैं। फिर जहाँ तुम्हारा धन रहेगा वहीं तुम्हारा मन रहेगा। संग्रह के विरोध में तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि "सुई के छेद में से ऊँट का निकल जाना संभव है किन्तु धनवान् आदमियों का स्वर्ग में प्रवेश करना असंभव है।"

टाल्सटाय सदाचार और सरल जीवन के समर्थक थे। मादक द्रव्यों के सेवन का विरोध करते थे। उनका कहना था कि मादक द्रव्यों का सेवन दुराचार करने और आत्मा की आवाज को दबाने के लिए किया जाता है। उन्होंने लिखा है कि प्रत्येक धर्म ने आत्मोन्नति के लिए क्रमानुसार उन्नति आवश्यक मानी है। चीनी लोगों का विश्वास है कि स्वर्ग की सीढ़ी का एक पाया जमीन पर और दूसरा स्वर्ग में है। अगर कोई स्वर्ग प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए सब से नीचे वाले डंडे पर कदम रखना आवश्यक है। संसार के सभी महापुरुषों ने और धर्मों ने यह माना है कि शुद्ध सदाचारी जीवन प्राप्त करने के लिए वस्तुः क्रमानुसार सद्गुणों को जीवन में धारण करना आवश्यक है। अपने भोग-विलास के जीवन को छोड़े बिना मनुष्य मात्र का हित कैसे हो सकता है या धार्मिक जीवन कैसे व्यतीत किया जा सकता है? जो मनुष्य धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहता है वह भोग-विलास और व्यसनों को छोड़े बिना भी रह सकता है।

टाल्सटाय के जीवन में दार्शनिक विचार आध्यात्मिक आनन्द और निष्कपटता का समन्वय हो गया था। वे विवाह को भी आध्यात्मिक दृष्टि से ही देखते थे।—'क्यूिजर-सोनाटा' नामक उपन्यास में विवाह के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा था—"विवाह एक आध्यात्मिक गाँठ है। जिस विवाह में आत्मा का आत्मा से सम्बन्ध नहीं होता वह विवाह, विवाह नहीं कहा जा सकता तथा समाज व जाति को अवनति पर ले जाने वाला होगा। हमारे जीवन का एक मात्र लक्ष्य आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना होना चाहिए।"

इसी तरह कला के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यता थी कि कला हमारी भावनाओं का चित्रण मात्र है। अपनी भावना को आदमी तभी पहचान सकेगा जब कि वह आत्म-पूर्णता की उस श्रेणी पर पहुँच गया हो जिसको उसकी कला व्यक्त करती है। वे कला को केवल 'सौन्दर्य की खोज' नहीं मानते थे। कला को जीवन के लिए उपभोग मानते थे।

टाल्सटाय ने त्याग को अपने जीवन का परम लक्ष्य माना था। इसके बिना जीवन में पवित्रता, उज्ज्वलता और शांति नहीं मिल सकती। उनका त्याग क्या था? उनके ही शब्दों में—"त्याग के बिना धार्मिक जीवन न हुआ और न होगा। त्याग का अर्थ यह है कि मनुष्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति से स्वतंत्र होकर मन की वासनाओं को बुद्धि के आधीन कर दे। वासनाएँ दो प्रकार की होती हैं—मिश्रित और मूल। खेल, तमाशा, बातचीत करने की वासना तो मिश्रित वासना है और अति-आहार, आलस्य और काम मूल वासना है। बहुत अधिक भोजन से आदमी आलसी होता है और आलसी व्यक्ति काम भाव पर विजय कैसे पा सकता है?·········धार्मिक जीवन की पहली शर्त त्याग है और त्यागपूर्ण जीवन की पहली शर्त है उपवास।

टाल्सटाय का उदार हृदय हिंसा से घृणा करता था। माँस-सेवन का उन्होंने विरोध करते हुए उसे पाशविक वृत्तियों की वृद्धि में सहायक माना था। अहिंसा के सिद्धान्त के कारण वे मारकाट और हिंसा का विरोध करते थे। उन्होंने कहा था "फौज हत्या करने का एक साधन है। फौजों को बनाना और रखना हत्या करने का साधन है। हिंसा और मारकाट से शान्ति और सुख की प्राप्ति संभव नहीं है।"

टाल्सटाय हृदय से शान्ति चाहते थे, वे मानव के शुभेच्छु थे। वे केवल शास्त्रज्ञ नहीं थे जिनके लिए कबीर दास ने कहा है—"पोथी पढ़ि मुढ़ि जग हुवा, पंडित भया न कोय।" उन्होंने तो सच्चा ज्ञान प्राप्त किया था और कथनी और करनी का समन्वय करके निहाल हो गये—

"जैसे मुख से नीकसे, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल॥ (कबीर)

इस प्रकार वे तो कृतकार्य हुए ही, अपने लिए उन्होंने जन्म-मरण के भय से मुक्त यशः काया प्राप्त की ही ; परन्तु आगे आने वाली पीढ़ियों के सम्मुख एक प्रकाश स्तंभ निर्मित कर गये जिसे अशान्ति उर्मि-विलोडित जन सागर में दैवी भावों की नौका डूबने से बचेगी और पुनः पुनः पाशविक शक्तियों की पराजय होगी। महात्मा गांधी ने टाल्सटाय के दिव्य विचारों की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन्हें अपना आध्यात्मिक गुरू माना है।

अन्त समय में अपरिग्रह और त्याग का उपदेशक टाल्सटाय जीवन के सभी सुखों को छोड़कर, सम्पत्ति से मुख मोड़ कर अन्त समय तक एक अकिंचन बना रहा और इसी रूप में महाभिनिष्क्रमण किया। इस तरह उसका सम्पूर्ण जीवन ही एक खुली पुस्तक है जिसमें उसके दिव्य विचार अंकित हैं।

७ : साहित्य-मनीषी जॉर्ज बर्नाड शॉ

पाश्चात्य साहित्य मनीषियों में जॉर्ज बर्नाड शॉ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने साहित्य सेवा में अपना जीवन लगा दिया और सदैव कीर्ति से, सम्मान के पुरस्कार से दूर भागने का ही प्रयत्न किया। आयरलैंड के इस महान नाटककार को १६२५ में नोबुल पुरस्कार प्रदान करने का निश्चय किया गया। इस वर्ष नोबुल-पुरस्कार के पूरे २५ वर्ष व्यतीत हो रहे थे। अतः विशेष उत्साह पूर्वक इस समारोह को मनाने का निश्चय किया गया था। इस विश्वविख्यात पुरस्कार की सूचना शॉ को भेजी गई किन्तु एक सप्ताह बाद एक स्वीडिश एकेडमी को उनकी स्वीकृति की सूचना प्राप्त नहीं हुई। चारों ओर चर्चा होने लगी कि बर्नाड शॉ इस पुरस्कार को और इस कीर्ति के प्रतीक को स्वीकार नहीं करेंगे। कुछ पत्रों ने तो काफी भर्त्सना करते हुए यहाँ तक लिख डाला कि शॉ महोदय शहर से बाहर जाकर यह निश्चय कर रहे होंगे कि पुरस्कार लेना चाहिए या नहीं।

खैर, जैसे-तैसे शॉ ने यह पुरस्कार स्वीकार तो कर लिया किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि मुझे और कीर्ति की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने यह आकांक्षा प्रकट

की कि पुरस्कार में जो धनराशि प्राप्त हुई है उसका उपयोग ब्रिटिश और स्वीडन द्वीपों के बीच साहित्य के सामञ्जस्य को प्रोत्साहन देने में किया जाय।

बर्नार्ड शॉ का जन्म डबलिन में २६ जुलाई सन् १८५६ ई० में हुआ था। यद्यपि वे अपने पिता की तीसरी सन्तान थे परन्तु पुत्रों में एकमात्र वही थे। उनके पिता स्वभाव से ही विनोदप्रिय थे अतः शॉ ने यह गुण पैतृक सम्पत्ति में पाया था। शॉ के हास्य व्यंग और विनोद विश्व में प्रसिद्ध हैं। परन्तु उनमें अपने पिता के समान उच्च कुल का दंभ नहीं था।

शॉ के जीवन पर उनकी माता का भी काफी प्रभाव था। उनकी माता का नाम लुसिएडा एलिजाबेथ गर्ली था। वे एक गाँव की रहने वाली थीं और संगीत का अच्छा ज्ञान रखती थीं। उस पर उसके संगीत शिक्षक जार्जली का प्रभाव था परन्तु शॉ पर दोनों का प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि शॉ को संगीत का बचपन से ही प्रेम था और संगीत की समता ने उनकी स्वतन्त्र प्रकृति के साथ मिलकर उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

शॉ का बचपन उनके व्यंगपूर्ण शब्दों में "बेकारी और शैतानी की अवधि" था। अपने चाचा से लेटिन का व्याकरण पढ़ा और १४ वर्ष की उम्र में ही स्कूल छोड़कर जीवन संघर्ष में उतर आये। ५ वर्ष तक क्लर्की की किन्तु योग्यता और अध्यवसाय के साथ। इस छोटी-सी उम्र में इस प्रकार की कर्त्तव्यनिष्ठा और योग्यता उनकी भावी उन्नति की ओर संकेत करते हैं।

शॉ की युवावस्था के आरम्भिक दिन आर्थिक कठिनाई में बीते थे। उनकी २० वर्ष से ३० वर्ष तक की आयु में उन्हें द्रव्याभाव के कारण अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता था। नौकरी, कठिन श्रम करने के बाद भी उन्हें बहुत कम पैसा मिलता था और उनकी रचनाएँ अप्रकाशित होकर अस्वीकृति का चिन्ह लिए लौट आती थीं, किन्तु बर्नार्ड विपरीत परिस्थितियों से मुँह छुपाने वाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने साहस के साथ

सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करना आरम्भ किया और इसी सामाजिक जीवन के गहरे अध्ययन पर उनकी सफलता का विशाल गगनचुम्बी प्रासाद खड़ा है।

बर्नार्ड की रचनाओं में शिष्ट, गंभीर और सुन्दर हास्य पाया जाता है। उनका विनोद मनुष्यतापूर्ण होता था। जब वे समाज की चुटकी लेते थे तो उसमें एक अपूर्व मीठी कसक पाई जाती थी। उनका "सेव की गाड़ी" नामक उपन्यास इस विषय में बहुत प्रसिद्ध है। उनके हास्य-विनोद ऐसे नहीं होते थे जिसमें केवल दाँत ही खुलें वरन् वे हृदय और मस्तिष्क के परदों को भी खोल देते थे। यद्यपि उनके आलोचकों ने उन्हें अतिशय यथार्थवादी करार दिया है तथापि उनकी रचनाओं में आदर्शवाद की झलक मिलती है; हाँ, वे केवल स्वप्नग्रस्त थे। 'शस्त्र और मनुष्य' तथा 'फैनी का प्रथम खेल' इस कोटि की रचनाएँ हैं जिनमें उनके आदर्शवाद का दर्शन होता है।

शॉ का जीवन एक मस्तमौला अक्खड़ साहित्यक जीवन था। उन्हें यह चिन्ता नहीं थी कि दुनिया उनके बारे में क्या कहती है। वे तो अपनी धुन के पक्के थे। उन्होंने अपने निवास स्थान पर यह लिख कर टाँग रखा था—"लोग कहते हैं। क्या कहते हैं? कहने दो।" उनके व्यक्तिगत जीवन में भी कुछ ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनसे उनकी स्वच्छन्द प्रकृति का ज्ञान होता है। वे सुबह शाम घूमने निकलते तो मीलों निकल जाते। तैरते तो घंटों तैरते और जब अपनी बात करते तो दुनिया की ओर से कान बन्द कर लेते। वे आयरलैंड के थे परन्तु आप रहते इङ्गलैंड में थे। मिलने वालों की भीड़ से उन्हें चिढ़ आती थी।

शॉ के नाटक ही नहीं उपन्यास भी काफी दिलचस्पी के साथ पढ़े जाते हैं। "युक्ति हीन ग्रन्थि", "कलाकारों में प्रेम", "कैशल बायरन का पेशा" नामक उपन्यासों का विशेष प्रचार हुआ है। उनके उपन्यासों में सामंजस्य की भावना पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है परन्तु समाजवाद का यथेष्ट प्रभाव है। "कैशल बायरन का पेशा" नामक उपन्यास तो नाटक के रूप में परिवर्तित करके रंगमंच पर खेला भी जा चुका था। इसके

बारे में स्टीवेंशन ने विलियम आर्चर को लिखा था—"यह उन्माद और माधुर्य से पूर्ण है। लेखक में स्काट ऑफ ड्यूमा की भाँति शौर्य की रुचि तो है ही परन्तु साथ ही इसमें समाजवाद का पुट भी है। मेरा विश्वास है कि वे (लेखक) अपने हृदय में सोचते होंगे कि यथार्थवाद रूपी ठोस स्फटिक की खान खोदने का प्रयत्न कर रहे हैं।"

शॉ एक श्रेष्ठ समालोचक भी थे। उन्होंने "पालमाल-गजट" और बाद में "दी पर्ल" और "दी स्टार" नामक पत्रिकाओं में समालोचक का कार्य किया। साहित्य के तो आप पंडित थे ही। शब्दों की आत्मा की आपको खूब परख थी। छोटी सी भी गलती उनकी पेनी दृष्टि में आ जाती थी। एक बार रविन्द्रनाथ की कविता में भी पाँच शब्दों को आपने पकड़ लिया जो कि अंग्रेजी की दृष्टि से उचित प्रयुक्त नहीं हुए थे। इसके साथ ही संगीत, नाटक और चित्रकला पर भी आपने विद्वत्तापूर्ण समालोचनाएँ लिखीं और सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्नों पर लिखे हुए निबन्धों में तो आपके स्वतंत्र-विचार का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झाँकने लगता है। सामाजिक प्रश्नों के सुलझाने में आप कार्ल मार्क्स, सिडनी वेब तथा श्रीमती एनी बेसेंट से प्रभावित थे। समाजवाद पर आपने वक्तृता भी दी और समाजवाद पर फेबियन सोसाइटी द्वारा प्रकाशित निबन्ध माला का सम्पादन भी किया। बाद में आप साम्यवाद के विरुद्ध हो गये। यह उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है और लिखा है कि "अब मैं परिवर्तित हो चुका हूँ और सचमुच मैं एक अदभुत मनुष्य हूँ।"

शॉ अक्खड़ और स्वतंत्र-प्रकृति के तो थे ही परन्तु उन्हें अपने ज्ञान का गर्व भी कम नहीं था। कहीं-कहीं तो वे बहुत आगे बढ़ जाते थे। इस कारण आलोचकों को आपसे बड़ी चिढ़ थी। परन्तु वे कब डरने वाले थे। 'दि रिव्यू आफ रिव्यूज' में व्यंग चित्र भी प्रकाशित हुए जिन्हें देख कर हँसी रोकना कठिन हो जाती है। इस पर भी उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। वे अपनी बात सीधे ढंग से, चुभते ढंग से मनवाने का प्रयत्न करते थे। प्रायः व्यंग और चुभती बात में उन्हें आनन्द का अनुभव होता था। उनके गर्व के सम्बन्ध में तो "आचारवादियों के लिए तीन नाटक"

की भूमिका का एक उदाहरण दे देना ही पर्याप्त होगा—"अधिकाँश नाटककार अपनी रचनाओं की भूमिका स्वयं इसलिए नहीं लिखते कि वे लिख नहीं सकते, क्योंकि नाटककारों में आध्यात्मिक चेतनता और दार्शनिकता का अभाव होता है। इससे मेरा अभिप्राय यह है कि मैं अपनी प्रशंसा करवाने के लिए दूसरे लेखक से भूमिका क्यों लिखवाऊँ जब मैं स्वयं अपनी प्रशंसा कर सकता हूँ और मैं लिखने के लिए अपने को अयोग्य नहीं पाता। आलोचना करने में मैं सभी आलोचकों को छकाने की भरपूर शक्ति रखता हूँ। रही दार्शनिकता, सो तो मैंने ही इन आलोचकों को पढ़ाई है, जो मेरी ही भरी बन्दूक लेकर मुझ पर निशाना लगा रहे हैं। वे लिखते हैं कि मैं इस प्रकार लिखता हूँ जैसे मनुष्यों में बुद्धि बिना इच्छा शक्ति या हृदय के हो। मैं कहता हूँ कि 'इच्छा शक्ति' और 'बुद्धि' का अन्तर समझने की ओर उनका ध्यान बर्नार्ड शॉ ने ही आकर्षित किया है—शोपेनहार ने नहीं।" आपने स्वयं स्वीकार किया हैं कि मैं स्वभावतः ही साहसी और सब पर प्रभाव जमाने वाला पैदा हुआ हूँ।

सन् १८९८ में 'प्रिय और अप्रिय नाटक' प्रकाशित हुआ जिससे शॉ महोदय हास्य, व्यंग, दर्शन और साहसपूर्ण विचारों के लेखकों में श्रेष्ठ मान लिऐ गये। इसके बाद ही नाट्य-संसार में आपकी धाक जमाने वाले 'दि फिलेरडस्' 'श्रीमती बायरन का पेशा' 'कैण्डिडा' 'शस्त्र और मानव' 'भाग्यवान पुरुष' और 'आप कभी नहीं बता सकते' आदि नाटक छपे। इसके बाद 'शैतान का शिष्य' नाटक प्रकाशित हुआ जिसमें शॉ ने एक अद्भुत पात्र की सृष्टि की थी जिसमें दार्शनिकता और क्रूरता का समावेश है।

शॉ के नाटक व्यंग और विनोद से पूर्ण तो थे ही परन्तु उनमें बौद्धिक और आध्यात्मिक तर्क तथा उपदेश भी पाये जाते थे। कहीं-कहीं तो आपके आध्यात्मिक तर्कों के प्रकाश में नाटकीयता लुप्त हो जाती थीं कहीं उपदेशों से बोझिल भी हो जाती थी। किन्तु आपका 'फैनी का प्रथम खेल' इस प्रकार का नाटक है जिसमें उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही नाटकीय गुणों का भी उत्कर्ष है। इन गंभीर नाटकों के अतिरिक्त हल्के

नाटक भी लिखे जो विद्यार्थियों और मनोरंजन प्रेमियों को काफी जंचे थे। इस प्रकार के नाटकों में 'ऐण्ड्रोकिल्स ऐण्ड दी लायन' 'पिगमैलियन' और 'बैक टू मेथ्यूसिला' अधिक प्रसिद्ध हैं।

शॉ के नाटकों में चमत्कार का अभाव सा है। आपने समाज की रूढ़िवादिता का अत्याचार और शोषण का भंडाफोड़ किया है। आपका ऐतिहासिक नाटक 'सेण्ट जोन' एक ओर तो ऐतिहासिकता की रक्षा करता है दूसरी ओर रूढ़िवाद को चुनौती देता है। एक ओर यदि सभी नाटकीय-गुणों की छटा है तो दूसरी ओर आदर्श और मानवता का भी सन्देश दिया गया है। चरित्र-चित्रण लेखक की सूक्ष्म अन्तर्द्दष्टि का परिचय देता है। जोन मध्ययुगीय लोगों की भाँति ईश्वर और सन्तों में विश्वास रखती है साथ ही सैनिक कौशल से भी पूर्ण है।

शॉ के नाटकों की अदभुतता का अभाव व्यंग शैली द्वारा पूर्ण किया गया है परन्तु ये व्यंग कहीं-कहीं अवांछनीय और कटु हो गये हैं। उनकी रचनाओं में व्यक्तिगत इच्छा और सामाजिक प्रणाली का संघर्ष पाया जाता है, जिसके कारण इच्छा की स्वतंत्रता को आघात पहुँचता है। शॉ मिथ्य और भ्रान्त धारणा के शत्रु थे। वे विचारों की अनिश्चितता के भी विरोधी थे। वे यह पसन्द नहीं करते थे कि विश्बास के विरुद्ध कार्य किए जाँए। वे एक पथ स्वीकार करने पर ही जोर देते थे। 'श्रीमती बायरन का पेशा' नामक नाटक में विवी नामक एक लड़की के द्वारा शॉ ने यह बात कहलवायी है। यह पहले तो अपनी माँ की प्रतिष्ठा के प्रति आकर्षित होती हैं परन्तु बाद में अस्वीकार करती है। वह कहती है—"माँ, यदि तुम्हारी जगह मैं होती, तो मैं भी तुम्हारा जैसा काम ही करती पर मैं यह पसन्द न करती कि मैं विश्वास तो कुछ करूँ और जीवन दूसरे ढंग से व्यतीत करूँ।"

शॉ प्रजातंत्र के विरोधी भी थे। उन्होंने 'सब की गाड़ी' नामक नाटक में प्रज्ञातन्त्र प्रणाली पर काफी व्यगं किये हैं। इसकी गणना शॉ के व्यंग सुखान्त नाटकों में की जाती है। इसमें एक सम्राट और प्रधान सचिव की असफलता वार्तालाप द्वारा दिखलाई गई है और इस स्थिति

पर अपने विचार प्रकट करते हुए शॉ ने भूमिका के बाईसवें पृष्ठ पर लिखा है—"ऐसी अवस्था में प्रजातन्त्र राज्य प्रजा के द्वारा नहीं, वरन् प्रजा की स्वीकृति से होता है।"

शॉ की सूझ-बूझ, नवीनता और मौलिकता की बहुत प्रशंसा होती है। उन्होंने इसका खण्डन करते हुए लिखा था—"मैं दूसरों के मस्तिष्क की चोरी करने में असफल नहीं हूँ और अपने मित्रों में सबसे अधिक भाग्यवान् रहा हूँ। बर्नार्ड शॉ लोकमत के पीछे चलने वाले नहीं थे प्रत्युत वे यथासंभव लोकमत के विरोधी भी रहे हैं। इस कथन की पुष्टि उनकी रचनाओं से होती है। उनकी रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों जीवन के चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करने, मानव जीवन के लिए कोई नवीन आदर्श उपस्थित करने की अपेक्षा उन्होंने ऐसी बातें अधिक लिखीं है जो विरोध-भाव उत्पन्न करने के लिए चुनौती हैं। जिसकी निन्दा करने पर तुल जाते बस फिर उसकी खैरियत नहीं थी। उनकी रचनाओं में कई स्थलों पर समाजवाद की विचारधारा की स्पष्ट छाप दिखाई देती है परन्तु कई स्थलों पर सोवियत रूस को काफी आड़े हाथों लिया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि शॉ साहब केवल निन्दा को ही कवि धर्म मान बैठे थे; अवसर आने पर उन लोगों के साथ सहृयदता भी दिखाई है जो आपके घनिष्ट समाज में आये थे। कला-कौशल के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने वाले सच्चे और उत्साही कार्यकर्त्ताओं पर आपकी विशेष कृपा दृष्टि रहती थी। शॉ ने उन लोगों की काफी प्रशंसा भी की है और समय-समय पर उन्हें प्रात्सोहन दिया है।

शॉ मिलना-जुलना कम पसन्द करते थे। किन्तु अपने घर आने वाले लोगों का स्वागत वे उत्साह के साथ करते थे और मेहमान की सुविधाओं और प्रतिष्ठा का ध्यान पूरा रखते थे। शॉ की पत्नी का स्वभाव भी मृदुल था। वे घर के काम-काज में दक्ष थीं और सदैव पति के कार्यों में सहायता भी देती रहीं।

शॉ देश-भक्ति के मादक राग में मतवाले होने वाले नहीं थे। वे तो अपने विचारों के अनुसार ही अनुकूलता और प्रतिकूलता ग्रहण कर लेते

थे। किन्तु उनका समाज-विषयक अध्ययन गहन और सूक्ष्म था। समाज-विज्ञान और समाज-इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्य उनके नाटकों में सर्वत्र पाये जाते हैं। इस क्षेत्र में तो शॉ महोदय अद्वितीय हैं। अतः विलियम लॉयन फेल्प्स ने कहा है कि समाज-विज्ञान और सामाजिक-इतिहास के लिये बर्नार्ड शॉ के नाटकों का अध्ययन अनिवार्य है। साहित्य के क्षेत्र में आपका आदर रहा है और आपके नाटक सदैव आपकी साहित्य सेवाओं के प्रतीक के रूप में रहेंगे।

८ : झाँसी की महारानी वीराङ्गना लक्ष्मीबाई

तजि कमलासनु कर कमलु, गहि तुरङ्ग तरवार।
कुल कमला काली भई, झाँसी-दुरग दुआर॥

—वियोगी हरि

“वर्षा का अन्त हो गया। कुवांर उतर रहा था। कभी-कभी झीनी-झीनी बदली हो जाती थी। परन्तु उस संध्या के समय आकाश बिलकुल स्वच्छ था। सूर्यास्त होने में थोड़ा सा विलम्ब था। बिठूर के बाहर गङ्गा के किनारे तीन अश्वारोही तेजी के साथ चले जा रहे थे। तीनों बाल्यावस्था में—एक बालिका, दो बालक। एक बालक की आयु १६-१७ वर्ष, दूसरे की १४ से कुछ ऊपर और बालिका की तेरह से कम।

बड़ा बालक कुछ आगे निकला था कि बालिका ने अपने घोड़े को ऐंड़ लगाई। बोली—“देखूँ कैसे आगे निकलते हो।” और वह आगे हो गई। (झाँसी की रानी, लक्ष्मीबाई—वृन्दावन लाल वर्मा)

ये बालक साधारण नहीं; १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम के वीर सेनानी थे। दोनों बालक बाजीराव के दत्तक-पुत्र नाना साहब और राव साहब थे। यह साहसी बालिका स्वतन्त्रता की देवी लक्ष्मीबाई थी, जिन्होंने १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में अँग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये, उन्हें उनके अन्यायपूर्ण कृत्यों पर विचार करने के

लिए विवश कर दिया। यह वही वीराङ्गना थी जिसकी सिंह-गर्जना से विदेशी-शासन का जर्रा-जर्रा काँप उठा था।

लक्ष्मीबाई का जन्म १६ नवम्बर सन् १८३५ को काशी में हुआ था। उनके पिता मोरोपन्त ताँबे महाराष्ट्र प्रदेश के अन्तर्गत सतारा के समीप कृष्णा नदी के किनारे बाई गाँव के रहने वाले थे। ये ब्राह्मण थे। उन दिनों मोरोपन्त अपने मित्र बाजीराव पेशवा के छोटे भाई चीमाजी के साथ काशी में रहते थे। लक्ष्मीबाई की माता का नाम भागीरथी देवी था। ये सुशील, सेवा-परायणा और साध्वी स्त्री थीं। मोरोपन्त को कन्या-जन्म से बहुत आनन्द हुआ। उनके जीवन में कोई अभाव नहीं था किन्तु उन्हें सन्तान के मुख देखने की लालसा थी। लक्ष्मीबाई के जन्म से उनकी हरी-भरी जीवन-वाटिका में बसन्त आ गया। नवजात कोयल की कुहुक से मोरोपन्त और उनकी पत्नी आनन्द विभोर हो गए। बालिका का नाम मनूबाई रखा गया।

दिन सदा एक से नहीं रहते। एक दिन काल आया और अकाल में ही चीमाजी को ले गया। मोरोपन्त को इससे बड़ा दुःख हुआ। मनू तो इस समय दूधमुँही बच्ची थी। मोरोपन्त ने काशी छोड़ने का निश्चय कर लिया। इसी समय पेशवा बाजीराव का उन्हें निमन्त्रण मिला। पेशवा को ईस्ट इण्डिया कम्पनी से आठ लाख रुपये की पेन्शन मिलती थी। उन्हें अपने भाई की मृत्यु से बड़ा धक्का पहुँचा। अतः मोरोपन्त ने पेशवा का निमंत्रण स्वीकार कर लिया और बिठूर (ब्रह्मावर्त) में आ गये।

मोरोपन्त परिवार के दिन सुख से व्यतीत हो रहे थे। मनू के सौन्दर्य, तुतले बोल और बाल-सुलभ कर्मों पर पति-पत्नी मुग्ध हो जाते थे। किन्तु शायद परमात्मा को कुछ और ही स्वीकार था। भागीरथी बाई अस्वस्थ हो गईं। चिकित्सकों ने जवाब दे दिया। और चार वर्ष की बालिका का मातृ-स्नेह विधाता ने छीन लिया।

पत्नी की मृत्यु के बाद बालिका के पालन-पोषण का भार मोरोपन्त पर आ पड़ा। अब मनू के लिए पिता ही माता-पिता दोनों थे। वे अपनी

लाड़ली को अकेली नहीं छोड़ते। वह अपने पिता के साथ ही रहती। मनू को रूप-दान देने में विधाता ने कंजूसी नहीं की थी। जो भी बच्ची को देखता, वही उसके नयनाभिराम रूप पर मुग्ध हो जाता। इसी कारण उसको 'छबीली' कह कर पुकारा जाने लगा। इस समय बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहब और राव साहब भी छोटे ही थे। अतः दोनों साथ-साथ ही खेला करते थे। मनूबाई बड़ी नटखट, साहसी और चतुर बालिका थी। उसने थोड़े ही दिनों में कुश्ती लड़ना, घोड़े पर चढ़ना, तीर चलाना, तलवार चलाना सीख लिया। छबीली का पालन-पोषण बेटों के समान ही होता था, अतः उसमें धीरे-धीरे वीर-पुरुषोचित गुणों का समावेश होने लगा। उसे शिकार का शौक हो गया। मनू ने मराठी, संस्कृत और हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

उन दिनों पेशवा के पास दूर-दूर से ज्योतिषी आया करते थे। एक दिन झाँसी के राज-ज्योतिषी पेशवा से मिलने आये। इनका नाम न्यात्या दीक्षित था। मोरोपन्त का इनसे पूर्व परिचय भी था। मोरोपन्त ने उन्हें अपनी लाड़ली 'छबीली' की पत्रिका दिखलाई और उसके योग्य वर ढूँढने की प्रार्थना की। ज्योतिषी ने पत्रिका देख कर कहा—"इस बालिका को राजयोग है अतः यह तो महारानी बनेगी। कुछ ही दिनों बाद सन् १८४२ ई० में झाँसी के महाराज गंगाधरराव से लक्ष्मीबाई का विवाह हो गया। गंगाधरराव का दूसरा विवाह था, पहली पत्नी को मरे कई वर्ष हो चुके थे। इस समय बालिका लक्ष्मीबाई की आयु केवल सात वर्ष की थी। विवाह के समय एक बड़ी ही मनोरंजक घटना घटी। पुरोहित वृद्ध थे, उनके हाथ काँपते थे। जब पुरोहित जी गठ-बन्धन करने लगे तो गाँठ लगाने में कठिनाई पड़ी। लक्ष्मीबाई तो नटखट और उत्साही थी भला उन्हें जरा से काम में इतना विलंब सहन कैसे होता? उन्होंने स्वयं गाँठ बाँधने के लिए हाथ बढ़ाया परन्तु समय का विचार करके रह गई। फिर भी उन्होंने कह ही दिया—"पुरोहित जी! ऐसी गाँठ बाँधना जो कभी न खुले।"

लक्ष्मीबाई को पाकर गंगाधरराव फूले नहीं समाये और प्रजा ऐसी देवी को पाकर खुशी में झूम उठी। मोरोपन्त भी झाँसी दरबार में प्रतिष्ठित दरबारी हो गये। उन्होंने भी दूसरा विवाह कर लिया। सन् १८५१ में लक्ष्मी बाई को एक पुत्ररत्न हुआ। सारे राज्य में आनन्द-सागर हिलोरें लेने लगा। दुर्दैव से तीन मास बाद ही नवजात शिशु माता-पिता और प्रजा को शोक सागर में डुबा कर चल बसा। महाराज का वृद्ध हृदय दैव के इस प्रहार को सहन नहीं कर सका। उन्होंने बिस्तर पकड़ लिया। चिकित्सा के उपरान्त भी रोग बढ़ता ही गया। महाराज के जीवन की आशा न रही। तब १८५३ ई० में उन्होंने हिन्दू विधानानुसार आनन्दराव नामक पंच-वर्षीय बालक को दत्तक ले लिया। इसका नाम दामोदरराव गंगाधरराव रखा गया।

उस समय झाँसी राज्य अँग्रेजों की छत्रछाया में था। अतः महाराज ने दत्तक पुत्र लेने की सूचना एक पत्र लिख कर मेजर एलिस द्वारा पोलिटिकल एजेन्ट को भिजवा दी। उसमें उन्होंने दामोदरराव को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और लिखा कि उसकी नाबालिगी तक शासन का समस्त कार्य लक्ष्मीबाई के हाथ में रहेगा। इस प्रकार राज्य का सारा प्रबन्ध करके गंगाधरराव सदा के लिए सो गये और लक्ष्मीबाई पर बिजली गिर पड़ी। २१ नवम्बर सन् १८५३ को अठारह वर्ष की तरुणी लक्ष्मीबाई की माँग का सिन्दूर पुँछ गया।

महाराज की मृत्यु से सारे राज्य में शोक छा गया। महाराज की अर्थी के साथ प्रजा और अँग्रेज अधिकारी भी गये। दाह संस्कार के बाद ही मेजर एलिस शाही खजाने में पहुँचा। इधर महारानी लक्ष्मीबाई अपने दुर्भाग्य पर रो रही थीं और उधर स्वार्थी मेजर खजाने पर सील लगा रहा था। उसने सील लगा कर उसकी रक्षा के लिए अँग्रेजी सेना नियत कर दी। एलिस ने राजनीतिक एजेन्ट मॉलकम हेली को महाराज की मृत्यु की खबर भेजी। हेली ने गवर्नर जनरल को सूचना दी और दत्तक पुत्र को अवैध घोषित करते हुए उसे षड्यंत्र बतलाया। इधर खानदेश में महाराज गंगाधरराव के किसी दूर के सम्बन्धी सदाशिवराव

ने झाँसी की गद्दी पर अपने अधिकार का दावा किया। हेली तो यह चाहता ही था, उसने उसे सहायता का आश्वासन दिया।

इस समय डलहौजी गवर्नर जनरल था। उसकी नीति "फूट डालो और राज करो" की थी। इसी नीति से उसने सिक्किम, दार्जिलिंग, अर्काट, तंजौर, सम्बलपुर और खैरपुर को हड़प लिया था। अब उसकी गिद्ध-दृष्टि झाँसी पर लगी हुई थी। इस बीच महारानी ने एक पत्र गवर्नर जनरल के पास भेजा था। परन्तु एलिस और हेली ने वह बीच में ही दबा लिया। अन्त में १७ फरवरी १८५४ को कलकत्ता में कौन्सिल ने फैसला दिया—"......और हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि महाराज को गोद लेने का हक न था। बुन्देलखंड के पोलिटिकल एजेन्ट ने महारानी को पेन्शन देने की सिफारिश की है, उसे हम मानते हैं। और उन्हें पेन्शन दे दी जाय। मॉलकम हेली ने सदाशिव की जो सिफारिश की है, वह ठीक नहीं। और ऐसी हालत में हमारी राय में झाँसी राज्य का सरकारी प्रबन्ध गवर्नर जनरल के हाथों में चला जाना चाहिए। अर्थात् झाँसी को अँग्रेजी राज्य में शामिल कर लिया जाय।" इस निर्णय के अनुसार २ अगस्त सन् १८५४ को झाँसी को अँग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। महारानी को अँग्रेजों के न्याय पर विश्वास था अतः उसने एक अँग्रेज और उमेश चन्द नामक वकील को ५० हजार रुपया देकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टरों के सामने अपील करने के लिए भेजा लेकिन वे इतने नीच निकले कि रुपये लेकर चलते बने। डलहौजी ने झाँसी के कोष से ६ लाख रुपया यह कह कर ले लिया कि राजकुमार के वयस्क होने पर दे दिये जायेंगे। विवश महारानी जहर का घूँट पीकर रह गईं।

अँग्रेजों के नीचतापूर्ण कृत्यों से जनता में असंतोष बढ़ता जा रहा था। उनके अन्याय की कहीं सुनवाई नहीं थी। लक्ष्मीबाई ने घोर विरोध किया किन्तु राजमद में बेहोश अंग्रेजों के कानों पर जूँ तक न रेंगी। लार्ड डलहौजी ने बाजीराव पेशवा की मृत्यु के पश्चात् उनके दत्तक पुत्रों, लक्ष्मीबाई के बाल-साथियों, की पेंशन बन्द कर दी। इसी समय कहते हैं,

गाय और सूअर की चरबी कारतूसों में लगाई जाती थी। अतः हिन्दू मुस्लिम सैनिकों में बड़ा असन्तोष फैला। अँग्रेजों ने अनीतिपूर्वक सतारा, झाँसी और नागपुर को भी अपने राज्य में मिला लिया। गोला-बारुद सब तैयार था। अचानक संयुक्त प्रान्त की कई छावनियों में विद्रोह का विस्फोट हुआ। सबसे पहले २५ अप्रैल सन् १८५७ में मेरठ की छावनी के सैनिकों ने विद्रोह का झंडा उठाया। फिर तो यह आग तेजी से संयुक्त प्रान्त में फैल गई। अँग्रेज विद्रोह की भयानकता से काँप उठे। झाँसी भी इन लपटों में घिर गया।

विदेशियों के अत्याचारों से असंतुष्ट सैनिक और जनता ने अँग्रेजों पर आक्रमण किया। लक्ष्मीबाई ने अँग्रेजों को शरण दी पर सैनिक बढ़ते गये और वे महारानी के पास तक जा पहुँचे। महारानी से उन्होंने तीन लाख रुपयों की माँग की, इस पर महारानी ने उन्हें अपने गहने देकर बिदा किया। अँग्रेज अफसर या तो मार डाले गये थे या अपनी जान बचा कर भाग गये थे। इस समय झाँसी राज्य शासक विहीन हो गया था। इसकी सूचना महारानी ने अँग्रेजों को भिजवा दी। सागर कमिश्नर ने लिख भेजा कि झाँसी का प्रबन्ध आप खुद करें। हम सहायता देने में असमर्थ हैं। महारानी ने विश्वस्त अफसरों की राय से शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में लिया और सारे प्रदेश में घूम-घूम कर शान्ति स्थापित की। दुर्भाग्य से इस समय लक्ष्मीबाई को योग्य सहायक नहीं मिल सके। सदाशिव, जो कि अपने को झाँसी का उत्तराधिकारी मानता था, ने झाँसी पर आक्रमण कर दिया। उसने करेरा का किला जीत लिया। खबर पाकर महारानी ने करेरा के किले पर आक्रमण किया और सदाशिव को कैद कर लिया। इसके कुछ समय बाद ओरछा के दीवान नत्थे खाँ ने झाँसी पर चढ़ाई कर दी। महारानी बड़े संकट में पड़ गईं। फिर भी उसने साहस से काम लिया। उसने झाँसी राज्य के पुराने सरदारों की एक सभा बुलाई और उसमें दीवान जवाहर सिंह को कँगना बाँधा। बस बुन्देले आन पर डट गये। पुरानी तोपें निकाली गईं। किलेबन्दी की गई। रणबाँकुरे इकट्ठे हुए और नत्थे खाँ को मुँह की खानी पड़ी।

हार खाकर नत्थे खाँ प्रतिशोध की भावना से अँग्रेजों से जा मिला। उसने उन्हें महारानी के विरुद्ध भड़काया। महारानी बागी समझी जाने लगी और सर ह्यू ज को भारत बुलाया गया। सर ह्यूज बानपुर, सागर और शाहगढ़ जीतता हुआ झाँसी की ओर बढ़ा।

जब लक्ष्मीबाई को इसकी खबर मिली तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। वे अभी तक अँग्रेजों का साथ देती आ रहीं थी परन्तु प्रतिदान में उन्हें इस प्रकार का व्यवहार मिला। महारानी के हृदय पर चोट पहुँची। इस पर सर ह्यू ज ने महारानी को किला खाली करके खाली हाथ बाहर निकल आने के लिए पत्र लिखा। इस अपमानजनक पत्र को पाकर स्वाभिमानिनी रानी सिंहनी के समान गरज उठी। उसने युद्ध करने की ठान ली। बहुत से मराठे भी उसकी सहायता के लिए आ पहुँचे। २३ मार्च को दोनों ओर से गोलाबारी शुरू हुई और १२ दिन तक घमासान युद्ध हुआ। इस बीच ताँत्या टोपे महारानी की सहायता के लिए आये परन्तु उन्हें भी विशेष सफलता नहीं मिली। एक विश्वासघाती दूलाजी नामक व्यक्ति ने ओरछा फाटक पर आसानी से सीढ़ी लगाने का मार्ग बना दिया। अब पश्चिम की ओर से अँग्रेजों के विध्वंसकारी आक्रमण होने लगे। उन्होंने दृढ़तापूर्वक प्रजा की रक्षा की। गोरी फौज आगे बढ़ती आई और दरवाजा तोड़ डाला गया। प्रजा पर निर्दयतापूर्वक अत्याचार होने लगे। महारानी का नारी हृदय करुणार्द्र हो गया और उसने अपने सब नौकरों को गुप्त मार्ग से निकल जाने का आदेश दिया। स्वयं एक घोड़े पर सवार होकर, दामोदरराव को पीठ पर बाँध कर सैनिकों सहित उत्तर द्वार से कालपी की ओर चल दी। रानी के पीछे ही उसके पिता हाथी पर अपना धन लिए चले आ रहे थे। वे पकड़ लिये गए और सर ह्यू ज ने उन्हें फाँसी पर लटका दिया। झाँसी का किला अँग्रेजों के हाथ में आ गया और उन्होंने लूटमार और हत्या करके निरीह नागरिकों से खूब बदला लिया।

लेफ्टीनेन्ट बौकर ने २१ मील तक लक्ष्मीबाई का पीछा किया। दूर से उन्हें एक तम्बू दिखाई दिया। बौकर प्रसन्न हो गया; किन्तु जब वे

लोग वहाँ पहुँचे तो जलपान के सामान के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगा। वे लोग महारानी का पीछा करते रहे। महारानी पाँच अप्रैल को भाँड़ेर नामक स्थान पर पहुँची। रानी के साथ केवल १२ सैनिक बच रहे थे। न सेना थी; न युद्ध के साधन। वीरांगना इस कठिन स्थिति में भी भय-भीत नहीं हुई और सामना करने के लिए तैयार हो गई। बौकर साहब उसे पकड़ने के लिए घोड़ा दौड़ाते हुए आये किन्तु लक्ष्मीबाई ने तलवार का ऐसा हाथ चलाया कि साहब बहादुर चारों कोने चित्त हो गये। इस प्रकार यह वीर रानी लगातार २४ घंटे तक चलती रही और ५ अप्रैल की आधी रात को ही १०२ मील चलकर यमुना के तट पर कालपी नामक स्थान पर जा पहुँची। इस स्थान पर पेशवा नाना साहब के भाई राव साहब अपनी छावनी डाले पड़े हुए थे। यह स्थान अँग्रेजों की पहुँच के बाहर समझा जाता था। क्योंकि झाँसी और कानपुर के बागी सैनिकों ने राव साहब की कमान में कालपी पर अधिकार कर रखा था और नाना साहब कानपुर थे।

यहाँ पहुँच कर रानी ने विश्राम लिया और प्रातःकाल अपने पहुँचने की सूचना पेशवा को भिजवाई। खबर पाते ही पेशवा की आज्ञा से ताँत्या टोपे ने आकर महारानी का स्वागत किया और सादर उन्हें कालपी ले गये। ६ अप्रैल को महारानी लक्ष्मीबाई रावजी के दरबार में उपस्थित हुई। दोनों ने एक दूसरे को देखा। बचपन की याद करके वे गद्गद् हो गये और आँखों से आँसू बह निकले। लक्ष्मीबाई बहुत योग्य राजनीतिज्ञा थीं। उन्होंने अपनी खून से सनी तलवार निकाल कर गंभीर वाणी में कहा—"भाई साहब! यह तलवार आपके पूर्वजों ने हमें दी थी। इसी के बल पर मैंने अरिदल-मर्दन किया। अब मैं अबला आपकी सहा-यता और कृपा के अभाव में इसकी मर्यादा रखने में असमर्थ हूँ। आप वीर हैं, अतः यह आपको सौंपती हूँ।" वीरांगना की चेतावनी से वीर रावजी के अंग-प्रत्यंग फड़क उठे और उसने महारानी के वीरतापूर्ण कार्यों की प्रशंसा करते हुए कहा— "हम तुम्हारे साथ थे, साथ हैं और रहेंगे।" यह कह कर उन्होंने लक्ष्मीबाई से तलवार उनके पास ही रखने

का अनुरोध किया। महारानी ने दरबार में प्रतिज्ञा की —"मेरे वीर भाई और अन्य वीरो! जब तक मेरे शरीर में रक्त की एक भी बूँद बाकी रहेगी, जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेंगे, मैं इस तलवार का सम्मान करूँगी।" अँग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। चारों ओर से वीर स्वातंत्र्य संग्राम में सम्मिलित होने के लिए पेशवा के ध्वज के नीचे एकत्र होने लगे। सर ह्यूज को जब यह खबर लगी तो उसने इनको शक्ति एकत्र करने का अवसर देना योग्य न समझा और २५ अप्रैल को कालपी की ओर कूच कर दिया। कोंच गाँव के पास दोनों दलों की मुठभेड़ हुई। विद्रोही घिर गये और उनकी हार हुई। महारानी ने राव जी को बतलाया कि उनकी हार का कारण व्यवस्था की कमी ही था। परन्तु रावजी ने स्त्री के सामने झुकना अपने सम्मान के विरुद्ध समझा और रानी का मान रखने के लिए उन्हें २५० सवार देकर यमुना तट की रक्षा का भार सौंपा।

अवसर पाकर खुले मैदान में रावजी की सेना ने अँग्रेजों की सेना पर धावा बोल दिया। जम कर लड़ाई हुई। परन्तु जब अँग्रेजों की तोपें आग उगलने लगी तो रावजी की सेना के पाँव उखड़ गये और वह भागने लगी। इसी समय लक्ष्मीबाई आ पहुँची। इससे युद्ध में नया उत्साह आ गया लेकिन तोपों का सामना न कर सकने के कारण सेना को किले की शरण लेनी पड़ी। फौरन अँग्रेजी फौजों ने किला घेर लिया। पेशवाई सेना को तैयारी का अवसर नहीं दिया फिर भी पेशवाई सेना ने अँग्रेजों की अग्निवर्षिणी तोपों का करारा जवाब दिया। अन्त में पेशवाई सेना के पाँव उखड़ गये और राव साहब को २४ मई के दिन सारा सामान छोड़ कर अपने साथियों समेत भागना पड़ा। दूसरे दिन कालपी के किले पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया।

कालपी से भागकर रावजी पेशवा और लक्ष्मीबाई ग्वालियर से ४६ मील दूर गोपालपुर पहुँचे। वहाँ इनसे ताँत्या टोपे और बाँदा के नवाब भी आ मिले। यह समय इन लोगों के लिए बड़े संकट का था। अतः इस विकट स्थिति का सामना करने के लिए विचार-विमर्श होने

लगा। लक्ष्मीबाई ने कहा कि जब तक किसी सुदृढ़ किले पर अधिकार न कर लिया जाय; अँग्रेजों का मुकाबला करना कठिन है। पास ही ग्वालियर का किला था। उस समय वहाँ जियाजीराव सिंधिया का शासन था। उसने देशवासियों का साथ न दिया। अतः युद्ध हुआ। रानी ने अपने साथियों की सहायता से किला जीत लिया। रानी का कौशल देख कर तरुण जियाजीराव भी दंग रह गये और वे आगरा भाग गये। आशा थी कि पेशवा अब शक्ति-संचय कर लेंगे। परन्तु वे भोग-विलास में लिप्त हो गये। रानी ने समय समय पर चेतावनी दी परन्तु उन पर कोई असर न हुआ। जब सर ह्यूज सर पर चढ़ आया तो राव साहब और ताँत्या टोपे की आँखें खुली। मुरार की छावनी में युद्ध हुआ। इसमें पेशवाई सेना को मुँह की खानी पड़ी। इस युद्ध में महारानी सम्मिलित नहीं हुई थी। नायकों को अपनी भूल समझ में आई और रावजी ने ताँत्या टोपे को महारानी के पास भेजा। महारानी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

अँग्रेजी सेना ग्वालियर पर चढ़ आई। महारानी ने भी शंख फूँक दिया। महारानी ने इस युद्ध में अद्वितीय शौर्य का परिचय दिया। सर ह्यूज ने महारानी से लड़ने के लिए कर्नल स्मिथ को भेजा लेकिन महारानी तो दुर्गा का विकराल रूप धारण करके अरि-मर्दन कर रही थी। अँग्रेजी सैनिक बुरी तरह काट दिये गये। दो दिन तक युद्ध का रुख पेशवाई सेना के पक्ष में रहा। तीसरे दिन स्थिति बदल गई। सर ह्यूज ने महारानी का मुकाबिला करने के लिए सेना बढ़ा दी। कुछ पुराने विश्वासघाती सैनिक अँग्रेजों से जा मिले। रानी चारों ओर से घिर गई। अब रानी मैदान में आ गई। रानी के शौर्य को देखकर अँग्रेज स्तंभित हो गए। रानी की सेना धीरे-धीरे घटने लगी। दूसरी ओर नबाब बाँदा और बाणपुर के राजा अँग्रेजों के सामने अधिक देर तक नहीं टिक सके। ताँत्या टोपे ने आगे बढ़कर रानी की सहायता करनी चाही परन्तु ह्यूज ने उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया। ग्वालियर का किला अँग्रेजों के हाथ में आ गया।

महारानी अपने कुछ साथियों सहित निकल भागी। अँग्रेजों ने उनका पीछा किया। रानी के साथी मारे गए। लक्ष्मीबाई को एक गोली लगी। किन्तु फिर भी वह बढ़ती ही गई। सामने दुर्भाग्य से एक नाला पड़ा। महारानी का घोड़ा मर चुका था और वे एक नये घोड़े पर सवार थी। वह अड़ गया। इसी समय अँग्रेजों ने उन्हें आ घेरा। अन्य कोई उपाय न देखकर घायल सिंहनी ने शत्रुओं का सामना किया। कई विरोधी मौत के घाट उतार दिये। आखिर वह कहाँ तक सहन करती। सारा शरीर छिद गया था फिर भी लड़ती जा रही थी। इसी समय पीछे से एक सिपाही ने उनके मस्तक पर तलवार का वार किया। उनके सिर के दो भाग हो गये और दाहिनी आँख निकल पड़ी। रानी ने आत्मसमर्पण नहीं किया; लड़ती ही रही। इसके बाद एक सवार ने उनके सीने में किच भोंक दी। रानी ने देखा कि अब अन्तकाल समीप है तो उसने अपने विश्वासपात्र सरदार रामचन्द्र देशमुख को इशारा किया और काशीबाई तथा रामचन्द उन्हें एक झोंपड़ी में ले गये। वीरांगना को लिटा दिया गया और उसके मुँह में गंगाजल डाला गया। रानी ने जी भरकर दामोदरराव को देखा। उसके मुख पर सन्तोष झलक रहा था, अलौकिक वीरश्री दमक रही थी। कुछ देर बाद महारानी ने ज्येष्ठ शुक्ल ७ सं० १९१४ (सन् १८५७) को प्राण त्याग दिये। सूर्यास्त का समय था। उधर भगवान भुवन भास्कर आकाश में महारानी के शौर्य का लोहित इतिहास लिखकर बिदा ले रहे थे और इधर धरती पर वीराङ्गना के रक्त की प्रत्येक बूँद मिट्टी में उसका अमर इतिहास लिख रही थी। सूर्यास्त समीप देख कर चिता सजाई गई और शव को रख कर आग लगा दी गई। लकड़ियाँ अधिक नहीं थीं किन्तु फिर भी ज्वाला धधक उठी। चिनगारियाँ ऊँची ऊँची उठने का प्रयत्न कर रही थी मानों वे देवों को स्वतन्त्रता की अमर देवी की अमर गाथा सुना रही थीं—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥"

सूर्यदेव अस्त हो गये। चिता की लपटें भी कम हो गईं। आकाश अरुण हो गया मानो वीर हुतात्मा के स्वागत के लिए स्वर्ग की अप्सराओं ने कुंकुम गुलाल उड़ाया हो। पक्षीगण देवी का गुणगान करने लगे। चिता बुझ गई किन्तु उसकी ज्योति तारों में समा गई। स्वर्ग में लक्ष्मी बाई को पाकर तारों की द्युति बढ़ गई थी। आज भी महारानी की समाधि, टूटी-फूटी समाधि, अपना अमर इतिहास लिए स्थित है। काशी, विठूर, झाँसी, कालपी और ग्वालियर उस देवी के कीर्ति स्तंभ हैं। जब तक भारत है और भारतवासियों में स्वदेशाभिमान है इस देवी का आदर से स्मरण किया जाता रहेगा।

यहाँ रानी की मृत्यु के बाद कई दिनों तक अँग्रेजों को इसका पता नहीं लगा। मृत्यु का पता लगने पर जनरल सर ह्यूज ने कहा—"यह उनमें श्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट वीराङ्गना थी।" (She was best and the bravest of them all.)

यों तो सारे भारत के हृदय में ही महारानी की वीरतापूर्ण मृत्यु चिर नवीन है फिर भी बुन्देलखंड, विशेष रूप से झाँसी में, होली जलाने के बाद झाँसी निवासी अपनी महारानी के शोक में फाग नहीं खेलता, शोक मनाता है। आज भी बुन्देले और हरबोलों के मुँह से उस रानी की कीर्ति सुनाई पड़ती है। महारानी झाँसी राज्य के लोक जीवन में प्रविष्ट हो गई, लावनियों में, फागों में, दादरों और सोहरों में किसान-मजदूर इस देवी के प्रति कृतज्ञतापूर्ण भाव प्रदर्शित करते हैं। महारानी का प्रयत्न दैव-दुर्विपाक से, कुछ अभावों के कारण सफल नहीं हुआ नहीं तो भारत का मानचित्र ही दूसरा होता।

९ : कवीन्द्र रवीन्द्र

जय-जय कवि-कुल-तिलक भारती देवि उपासक ।
रुचिर रम्य सद्भाव सुभग कर निकर प्रकाशक ।
जय-जय भारत-कीर्ति धवल धुज जग फहरावत ।
जय विश्व विदित विजयी प्रमुख सौम्य मूर्ति तव लसित नित ।
जिहि लखि-लखि प्रचुर विदेश जन होत नेह नत चकित चित ॥

—सत्यनारायण 'कविरत्न'

कवीन्द्र रवीन्द्र उन बिरले रस-सिद्ध कवीश्वरों में से है जिनके यशः शरीर को जरामरण का भय नहीं है । उनकी कीर्ति-कौमुदी की प्रभा विश्व-व्यापिनी बन गई है । युद्ध की विभीषिका से त्रस्त और भौतिकवाद के ज्वर से पीड़ित पश्चिमी देशों को उन्होंने अपनी गीताञ्जलि द्वारा भारतीय आध्यात्मिकता का सन्देश सुनाया था । कला, काव्य और संस्कृति के वे उन्नायक थे, अभिनयों में स्वयं भाग लेकर उन्होंने उस कला का मान बढ़ाया था । वे भीतर और बाहर दोनों ही ओर से भव्य और सर्वतो-भद्र थे ।

गौरवर्ण का सुनिश्चित रेखाओं से अङ्कित भव्य भाव जननी प्रतिभा की छटा विकीर्ण करने वाला मुख-मण्डल, सुव्यक्त और सुडौल नासिका पर प्रिन्सनेज चश्मा, रजताभ फहराती हुई दाढ़ी, लम्बा लबादा अथवा

कौशेय चादर, पटलीदार धवल धौत अधोवस्त्र और मुलायम चर्म का फुल सिलीपर से सुसज्जित उनकी वेष-भूषा उनकी अनन्त की ओर जाने वाली दिव्य स्वरूपता का परिचय देती थी। उस भव्यता के सामने सहज ही मस्तक अवनत हो जाता था।

वे स्वप्न द्रष्टा कवि थे। 'तन्त्री नाद कवित्त रस' में सब अंग बूड़े हुए भी संसार की कठोर वास्तविकता को भूले न थे। उनका जीवन सन्देश पलायनवाद का न था वरन् सात्विक क्रियाशीलता का था। उनकी कला कला के लिए न थी वरन् बहुजनहिताय थी। वे मैथिलीशरण जी गुप्त के शब्दों में अपने काव्य और कौशल से 'भव में नव वैभव व्याप्त कराने' आये थे। वे यहाँ गढ़ने आये थे तोड़ने नहीं आये थे। वे विदेशी शासन के आर्थिक शोषण के ही विरुद्ध न थे वरन् उससे जो भारतीय स्वाभिमान की क्षति होती थी उसके प्रति सात्विक विद्रोह प्रकट करने आये थे। अँग्रेज जैसी जाति से जो दूसरों को मान्यता देने में स्वभावतः कृपण है, उन्हें प्रशंसा भरपूर मात्रा में मिली थी किन्तु वे सच्चे धीर-वीर की भाँति उस प्रशंसा से विचलित नहीं हुए थे। जलियान वाला बाग के हत्याकाण्ड से उनका हृदय द्रवित हो गया और अँग्रेजों द्वारा दी हुई 'सर' की पदवी को उन्होंने दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया।

डाक्टर राधाकृष्णन के शब्दों में उनका सिद्धान्त था "If we are to dethrone the despot outside we must destroy the throne within ourselves which we have built for him. No tyrant can rule the free in mind." अर्थात् 'यदि हम बाहरी अत्याचारी को सिंहासन च्युत करना चाहते हैं तो हम को उस सिंहासन को जो हमने अपने हृदय में उसके लिए बनाया है छिन्न-भिन्न कर देना चाहिए। मन में जो स्वतन्त्र है उस पर कोई अत्याचारी शासन नहीं कर सकता।' वे मन की इस स्वतन्त्रता के लिए सतत् प्रयत्न-शील रहे। उनकी राष्ट्रीयता संकुचित न थी। वे अपनी विश्वभारती के द्वारा सारे विश्व के मानवों को एकनीड़ बनाना चाहते थे। विश्व को प्रेम के सुदृढ़ सूत्र में बाँधने में वे पूज्य महात्मा गांधी के सब से शक्ति-

शाली सहयोगी थे। आधुनिक भारत की काव्य कला पर उनकी गहरी छाप है। राजनीति में जो स्थान महात्मा गान्धी का है वही स्थान कला के क्षेत्र में कवीन्द्र रवीन्द्र का है। काव्य कला और संगीत के अनुशीलन द्वारा उन्होंने मानव को पुच्छविषाणहीन पशु बनने से बचाया।

वंश परिचय—बङ्गाल में ब्रह्म समाज के रूप में सामाजिक और धार्मिक नवजागरण के उन्नायक राजा राममोहन राय अवश्य थे किन्तु महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने जीवन में भारतीय शान्ति और आध्यात्मिकता को मूर्तिमान किया था। वे 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' के सच्चे उपासक थे। उन्होंने महात्मा भर्तृहरि के बताये हुए हिमगिरि शिला पर बद्ध पद्मासन होकर जरठ हरिणों के शृंग-कण्ड-विनोद का आनन्द तो नहीं लिया था फिर भी वे अपने उद्यान के चबूतरे पर बैठ कर अपने ऊपर गिलहरियों के कोमल पद-संचार का सुख लेते थे। ठाकुर परिवार ने बङ्गाल के धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक तथा राजनीतिक उत्थान में प्रमुख भाग लिया था। महर्षि देवेन्द्रनाथ की धर्मपत्नी शारदा देवी भी उनके अनुरूप ही धर्मपरायणा शान्त स्वभाव की थी। रवीन्द्र बाबू अपने चौदह भाई बहिनों में सब से छोटे थे। उनका जन्म कलकत्ते में ७ मई सन् १८६१ को हुआ था।

घर की शिक्षा—महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर प्रायः घर से बाहर रहा करते थे। बालक रवीन्द्र को उनकी देख-रेख का लाभ कम मिलता था। फिर भी वे एक सम्पन्न घराने के बालक थे उनकी शिक्षा-दीक्षा की अवहेलना नहीं हुई। घर में मुंशी-कारिन्दे, नौकर और बड़े भाई आदि भी थे। शिक्षारम्भ के सम्बन्ध में कवीन्द्र लिखते हैं:—

'हम तीन बालक एक साथ पल रहे थे। मेरे दो और साथी मुझ से दो-दो साल बड़े थे। उन्होंने जब गुरु महाशय से पढ़ना शुरू किया तो मेरी भी उनके साथ शिक्षा शुरू हो गई; किन्तु मुझे उस बात की याद भी नहीं।'

सिर्फ इतना याद है 'पानी पड़ता है, पत्ता हिलता है (जल पड़े, पाता नड़े) मेरे जीवन में वही आदि कवि की प्रथम कविता है। उस दिन के

आनन्द की आज भी जब याद आती है तो समझ पाता हूँ कि कविता में तुक का मेल इतना जरुरी क्यों है; तुक को लेकर कान और मन आपस में खेलते ही रहते हैं। इस तरह घूम-फिर कर उस दिन मेरे सम्पूर्ण चेतन में पानी पड़ने और पत्ते हिलने लगे।

इनके घर के उत्तरदायी नौकरों में थे खजांची साहब कैलाश मुखर्जी जो बड़े हास्यप्रिय थे। उनकी हास्यप्रियता मरने पर भी नहीं छूटी थी। एक बार उनकी आत्मा को प्लेंचेट पर बुलाया गया और उनसे 'उस पार' का हाल बताने को कहा गया। उन्होंने उत्तर में लिखा 'जो बात मैं मर कर जान सका हूँ सो बात आप बिना मरे फोकट में जानना चाहते हैं, सो नहीं हो सकता है'। इनके सम्बन्ध में कवीन्द्र लिखते हैं:—

'यह कैलाश मुखर्जी मेरे बचपन में, बड़ी जल्दी-जल्दी एक लम्बी तुकबन्दी सुनाकर मेरा मनोरंजन किया करते थे। उस ग्राम्य कविता का नायक होता था खुद मैं और उसमें एक भावी नायिका के निःसंशय समागम की आशा अत्यन्त उज्ज्वल रूप में वर्णित होती थी। उसमें जो भुवन मोहिनी बधू भवतव्यता की गोद को आलोकित किए हुए विराज रही थी, कविता सुनते-सुनते उसके चित्र में मन अत्यन्त उत्सुक हो उठता'। खजांची साहब की कविता के मुख्य आकर्षण का कारण वे बतलाते हैं—जल्दी-जल्दी कहे गये अनर्गल शब्दों की छटा और छन्द का हिन्डोलना। एक और स्मृति का वे उल्लेख करते है:—'एक और स्मृति है—वृष्टि पड़े टापुर टूपर नदेय एलो बान, शिव ठाकुरेर बिये हो लो तीन कन्यादान' की। मानो यह बचपन का मेघदूत हो। यही उनके कानों और मन का प्रारम्भिक काव्य से संस्कार था।

स्कूल—रवीन्द्र की स्कूली शिक्षा समय से कुछ पूर्व ही हो गई थी क्यों कि उनके दो बड़े साथियों ने स्कूल जाना प्रारम्भ कर दिया था। जहाँ और बालक स्कूल भेजे जाने पर रुदन ठानते हैं वहाँ रवीन्द्र ने स्कूल न भेजे जाने पर रोदन का शस्त्र अपनाया था। इस रोदन बल पर वे ओरियन्टल सेमिनेरी में भर्ती कर लिए गये। वहाँ क्या शिक्षा मिली इसकी तो उन्हें याद नहीं किन्तु वहाँ की शासन प्रणाली की खूब याद रही। वे लिखते हैं

पाठ न सुना सकने पर विद्यार्थी को वहाँ बेन्च पर खड़ा करके उसके दोनों हाथ पसार कर उन पर कक्षा की बहुत सी स्लेट इकट्ठी करके रख दी जाती थी। इस तरह 'धारणा-शक्ति' का अभ्यास बाहर से भीतर संचारित हो सकता है, यह बात मनोवैज्ञानिकों का आलोच्य विषय है। धारणा शब्द का अर्थ है धारण करना—भौतिक रुप से भी होता है और मन में भी। कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि स्लेटों के बाहरी ढेर को धारण करने से क्या मन की धारणा शक्ति (स्मृति) बढ़ सकती है ?

घर का जीवन—बालक रवीन्द्र का घर का जीवन बहुत सरल था। वे कहते हैं कि आजकल के सम्पन्न घराने के बालक उस समय के सम्पन्न घरानों के बालकों की सुख-सुविधाओं को अपनाने में लज्जित होंगे। न उनके खाने-पीने में अमीरी की गन्ध थी और न उनकी पोशाक में। वे लिखते हैं :—

"हम लोग थे नौकरों के शासन-अधीन—हमारे आहार में शौकीनी की गंध नहीं थी। हमारे कपड़े इतने ज्यादा साधारण थे कि आजकल के लड़कों के सामने उसकी फहरिस्त रखने में सम्मान-हानि की आशङ्का होती है। दस साल की उमर के पहले किसी दिन किसी कारण से मोजे नहीं पहने। जाड़ों के दिनों में एक सफेद कुरता-कमोज पर एक सफेद कोट काफी था।। इसके लिए कभी भी भाग्य को दोष नहीं दिया। सिर्फ हमारे घर का दर्जी नियामत खलीफा जब लापरवाही से हमारे कुरता, कमीज व कोटों में जेब लगाना अनावश्यक समझता तो खेद हो जाता; कारण ऐसा लड़का किसी गरीब से गरीब घर भी जन्म नहीं लेता जिसके पास जेब में रखने लायक स्थावर-अस्थावर कुछ भी सम्पत्ति न हो।" धन्य है यह सन्तोष !

सौमित्र रेखा—बालक रवीन्द्र को नौकरों के शासन में रहना पड़ता था। एक नौकर का वे वर्णन इस प्रकार करते हैं :—

"हमारा एक नौकर था श्याम। श्याम वर्ण दोहरे बदन का लड़का था; उसके लम्बे-लम्बे बाल थे। खुलना जिले का रहने वाला था। मुझे वह कमरे के एक निर्दिष्ट स्थान पर बिठाकर मेरी तरफ खड़िया से

लकीर खींच देता था और गम्भीर चेहरा बनाकर तर्जनी उठाकर कह जाता था, लकीर के बाहर निकले नहीं कि आफत आई—लकीर पार करने से सीता की क्या दशा हुई थी सो रामायण में पढ़ चुका था; इसलिए लकीर को मैं अविश्वासी की तरह हँसी में उड़ा नहीं सकता था।"

बाहर—जब घर के ही भीतर सीमा रेखा का उल्लंघन कठिन था तब बाहर का तो कहना ही क्या! बाहर के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :—

"घर से बाहर जाना हम लोगों के लिए निषिद्ध था, यहाँ तक कि घर के भीतर हम सर्वत्र, जहाँ भी चाहे जा आ नहीं सकते थे। इसलिए विश्व प्रकृति को हमें ओट से ही देखना पड़ता था। 'बाहर' नाम का एक अत्यन्त-प्रसारित पदार्थ था जो मेरे लिए अतीत था, किन्तु उसका रूप-रङ्ग, शब्द, गन्ध, दरवाजे-जङ्गलों के नाना छिद्रों में से घुसकर इधर-उधर मुझे अचानक छू जाता था। मानो वह सींखचों के बन्धन से नाना इशारों में मुझसे खेलने की कोशिश करता रहता।" वे पिञ्जर वद्ध चिड़िया की भाँति बाहर उड़ने के लिए छटपटाते रहते थे। उनकी उस समय की भावनाएँ उनकी एक कविता के अनुवाद में झलकती है—

'छोड़ चलू मैं सोने का घर! भटकूँ जाकर वन में!
घर की चिड़िया थी पिंजड़े में, वन की चिड़िया बन में!!'

इसके कारण कवि की वृत्ति अन्तरमुखी अधिक रही, किन्तु उत्तर-कालीन जीवन में सैर-सपाटे ने बालकाल की सीमावद्धता की भी पूर्ति कर दी थी। बाल्यकाल में वे बाहर का आनन्द कल्पना में लेते थे। उन्होंने वाह्य उपकरणों के अभाव को एक वरदान ही माना है। वे लिखते हैं:—

'बाहर का सम्पर्क मेरे लिए कितना ही दुर्लभ रहा हो, किन्तु बाहर का आनन्द मेरे लिए शायद इसी कारण सहज था। उपकरणों की भरमार होने से मन आलसी हो जाता है। वह बराबर बाहर पर ही सब कुछ छोड़कर बैठ जाता है, यह भूल जाता है कि आनन्द की खोज में बाहर की अपेक्षा भीतर का अनुष्ठान ही मुख्य है।'

नारमल स्कूल—शिक्षित मात्र रहने के हीनता भाव को दूर करने के लिए बालक रवीन्द्र बरामदे के कटहरे के डंडों को कल्पित छात्र मानकर

उनको एक लकड़ी से शासित किया करता था। शिक्षक बनने का वास्तविक उपक्रम नार्मल स्कूल में भर्ती करा कर किया गया। वहाँ के वातावरण से कल्पनाशील बालक असन्तुष्ट रहा। अँग्रेजी के बङ्गाली अनुकरण में गाये हुए अर्थहीन विकृत गाने उसकी सौन्दर्यवृत्ति को आघात पहुँचाते थे। एक विकृत गाने का वे बड़ी कठिनाई से मूलपाठ खोजने में समर्थ हुए थे। लड़कों का गान इस प्रकार था :—

'कलोकी प्रलोकी सिंगिल मेलालिंग मेलालिंग मेलालिंग'

उसका असली अङ्गरेजी रूप था—

Full of glee singing merrily merrily merrily

वास्तव में भाषा विज्ञान के पंडितों के लिये यह कठिन समस्या होगी कि वे उन श्रेणियों का पता लगावें जिनके द्वारा ये परिवर्तन हुए। यद्यपि वहाँ की पढ़ाई में बालक का मन नहीं लगता था, पीछे की बैन्चों पर बैठा-बैठा वह भावी विचारक जीवन की समस्याओं को हल करता रहता था। उनमें एक यह था कि निःशस्त्र होकर शत्रु का कैसे मुकाबिला किया जाय। मन न लगने पर भी परीक्षा में सबसे ऊँचे नम्बर आये। अधिकारियों को उसमें पक्षपात की शङ्का हुई। दुबारा परीक्षा हुई फिर भी वही परिणाम निकला।

विविध अध्ययन—बालक रवीन्द्र की शिक्षा स्कूल की कटी-छटी शिक्षा पर निर्भर नहीं थी। उनको कठोर अनुशासन में रहकर सुबह से रात के नौ बजे तक बिविध विषयों का अध्ययन करना पड़ता था। उस समय के अध्ययन की एक झांकी उनकी जीवन स्मृति से दी जाती है :—

"उन दिनों नार्मल स्कूल के एक शिक्षक, श्री नील कमल घोषाल महाशय, हम लोगों को घर पर पढ़ाने आते थे। उनका शरीर क्षीण, शुष्क और कंठस्वर तीक्ष्ण था। देखने में ऐसे लगते थे जैसे मानव जन्म-धारी कोई बेल हो। सबेरे छै बजे से लेकर साढ़े नौ बजे तक हमारी शिक्षा का भार उन्हीं पर निर्भर था। 'चारु-पाठ' 'वस्तु विचार' और 'प्राणिवृत्तान्त' से लेकर 'माइंकिल मधुसूदन दत्त के मेघनाद बध' काव्य तक हम लोगों ने इन्हीं से पढ़ा था। इसके अलावा हमें विचित्र विषयों में

शिक्षा देने में मझले भाई साहब (हेमेन्द्र नाथ) विशेष उत्साहित थे। स्कूल में हमारे लिए जो कुछ पाठ्य था घर पर उससे बहुत ज्यादा पढ़ना पड़ता था। अँधेरा रहते गजर दम उठकर लंगोटी कसके पहले तो एक घन्टे पहलवान के साथ कुश्ती लड़नी पड़ती थी। फिर अखाड़े की मिट्टी शुदा बदन पर कुरता पहन कर 'पदार्थ विद्या' 'मेघनाथ वध' काव्य, ज्यामिति, गणित, इतिहास और भूगोल सीखना पड़ता था। स्कूल से लौटते ही ड्राइंग और जिम्नास्टिक के मास्टर हमें आ घेरते थे और दिन छिपते ही अंग्रेजी पढ़ाने को अघोर बाबू आ जाते थे। इस तरह रात के ६ बजे बाद तक छुट्टी मिलती।"

रविवार को सबेरे विष्णुचन्द्र से संगीत सीखना पड़ता था। इसके सिवा प्रायः बीच-बीच में सीतानाथदत्त महाशय आ कर यन्त्र-तन्त्र के सहारे प्राकृतिक विज्ञान सिखाया करते थे। यह शिक्षा मेरे लिए विशेष औत्सुक्यजनक थी।

× × × ×

इसके सिवा, कैम्बैल मेडिकल स्कूल के एक विद्यार्थी से किसी एक समय मैंने अस्थि-विद्या सीखना शुरू कर दिया था। इसके लिए तारों से जुड़ा हुआ एक नर कंकाल खरीद कर हमारे पढ़ने के कमरे में लटका दिया गया था।

इसी बीच में किसी समय हेरम्बचन्द्र तत्त्वरत्न महाशय ने हम लोगों को एक दम 'मुकुन्दं सच्चिदानन्द' से शुरू करके मुग्धबोध के सूत्र कंठस्थ कराना शुरू कर दिया। अस्थिविद्या के हाड़ों के नाम और बोपदेव के सूत्र इन दोनों से जीत किस की हुई थी सो मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता। मेरा ख्याल है कि हाड़ ही कुछ नरम थे।

अँग्रेजी भाषा के प्रति व्यङ्ग्य—अंग्रेजी के प्रति उनकी रुचि न थी, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु अंग्रेजी भाषा सीखने की कठिनाइयों के प्रति उन्होंने बड़े सुन्दर व्यङ्ग्य किये हैं। अग्नि के आविष्कार को मनुष्य की उद्भावन-शक्ति का सबसे बड़ा चमत्कार मानते हुए भी वे उसका सबसे बड़ा अभिशाप यह मानते थे कि उसके कारण बच्चों को

उनको एक लकड़ी से शासित किया करता था। शिक्षक बनने का वास्तविक उपक्रम नार्मल स्कूल में भर्ती करा कर किया गया। वहाँ के वातावरण से कल्पनाशील बालक असन्तुष्ट रहा। अँग्रेजी के बङ्गाली अनुकरण में गाये हुए अर्थहीन विकृत गाने उसकी सौन्दर्यवृत्ति को आघात पहुँचाते थे। एक विकृत गाने का वे बड़ी कठिनाई से मूलपाठ खोजने में समर्थ हुए थे। लड़कों का गान इस प्रकार था :—

'कलोकी प्रलोकी सिंगिल मेलालिंग मेलालिंग मेलालिंग'

उसका असली अङ्गरेजी रूप था—

Full of glee singing merrily merrily merrily

वास्तव में भाषा विज्ञान के पंडितों के लिये यह कठिन समस्या होगी कि वे उन श्रेणियों का पता लगावें जिनके द्वारा ये परिवर्तन हुए। यद्यपि वहाँ की पढ़ाई में बालक का मन नहीं लगता था, पीछे की बेन्चों पर बैठा-बैठा वह भावी विचारक जीवन की समस्याओं को हल करता रहता था। उनमें एक यह था कि निःशस्त्र होकर शत्रु का कैसे मुकाबिला किया जाय। मन न लगने पर भी परीक्षा में सबसे ऊँचे नम्बर आये। अधिकारियों को उसमें पक्षपात की शङ्का हुई। दुबारा परीक्षा हुई फिर भी वही परिणाम निकला।

विविध अध्ययन—बालक रवीन्द्र को शिक्षा स्कूल की कटी-छटी शिक्षा पर निर्भर नहीं थी। उनको कठोर अनुशासन में रहकर सुबह से रात के नौ बजे तक विविध विषयों का अध्ययन करना पड़ता था। उस समय के अध्ययन की एक झांकी उनकी जीवन स्मृति से दी जाती है :—

"उन दिनों नार्मल स्कूल के एक शिक्षक, श्री नील कमल घोषाल महाशय, हम लोगों को घर पर पढ़ाने आते थे। उनका शरीर क्षीण, शुष्क और कंठस्वर तीक्ष्ण था। देखने में ऐसे लगते थे जैसे मानव जन्म-धारी कोई बेल हो। सबेरे छै बजे से लेकर साढ़े नौ बजे तक हमारी शिक्षा का भार उन्हीं पर निर्भर था। 'चारु-पाठ' 'वस्तु विचार' और 'प्राणिवृत्तान्त' से लेकर 'माइकिल मधुसूदन दत्त के मेघनाद बध' काव्य तक हम लोगों ने इन्हीं से पढ़ा था। इसके अलावा हमें विचित्र विषयों में

शिक्षा देने में मझले भाई साहब (हेमेन्द्र नाथ) विशेष उत्साहित थे। स्कूल में हमारे लिए जो कुछ पाठ्य था घर पर उससे बहुत ज्यादा पढ़ना पड़ता था। अँधेरा रहते गजर दम उठकर लंगोटी कसके पहले तो एक घन्टे पहलवान के साथ कुश्ती लड़नी पड़ती थी। फिर अखाड़े की मिट्टी शुदा बदन पर कुरता पहन कर 'पदार्थ विद्या' 'मेघनाथ वध' काव्य, ज्यामिति, गणित, इतिहास और भूगोल सीखना पड़ता था। स्कूल से लौटते ही ड्राइंग और जिम्नास्टिक के मास्टर हमें आ घेरते थे और दिन छिपते ही अंग्रेजी पढ़ाने को अघोर बाबू आ जाते थे। इस तरह रात के ६ बजे बाद तक छुट्टी मिलती।"

रविवार को सबेरे विष्णुचन्द्र से संगीत सीखना पड़ता था। इसके सिवा प्रायः बीच-बीच में सीतानाथदत्त महाशय आ कर यन्त्र-तन्त्र के सहारे प्राकृतिक विज्ञान सिखाया करते थे। यह शिक्षा मेरे लिए विशेष औत्सुक्यजनक थी।

× × × ×

इसके सिवा, कैम्बैल मेडिकल स्कूल के एक विद्यार्थी से किसी एक समय मैंने अस्थि-विद्या सीखना शुरू कर दिया था। इसके लिए तारों से जुड़ा हुआ एक नर कंकाल खरीद कर हमारे पढ़ने के कमरे में लटका दिया गया था।

इसी बीच में किसी समय हेरम्बचन्द्र तत्त्वरत्न महाशय ने हम लोगों को एक दम 'मुकुन्दं सच्चिदानन्द' से शुरू करके मुग्धबोध के सूत्र कंठस्थ कराना शुरू कर दिया। अस्थिविद्या के हाड़ों के नाम और बोपदेव के सूत्र इन दोनों से जीत किस की हुई थी सो मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता। मेरा ख्याल है कि हाड़ ही कुछ नरम थे।

अँग्रेजी भाषा के प्रति व्यङ्ग्य—अंग्रेजी के प्रति उनकी रुचि न थी, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु अंग्रेजी भाषा सीखने की कठिनाइयों के प्रति उन्होंने बड़े सुन्दर व्यङ्ग्य किये हैं। अग्नि के आविष्कार को मनुष्य की उद्भावन-शक्ति का सबसे बड़ा चमत्कार मानते हुए भी वे उसका सबसे बड़ा अभिशाप यह मानते थे कि उसके कारण बच्चों को

रात में पढ़ना पड़ता है और इस बात के लिए कि चिड़ियों के बच्चों को रात में पढ़ना नहीं पड़ता और अँग्रेजी भाषा नहीं सीखनी पड़ती उनके भाग्य की वे सराहना करते हैं।

'पक्षी जो भाषा सीखते हैं सो सबेरे ही सीखते हैं और प्रसन्न मन से ही सीखते हैं, इस बात पर सभी ने लक्ष्य किया होगा। अलबत्ता उनकी वह भाषा अँग्रेजी भाषा नहीं, इस बात का भी ध्यान रखना उचित है।' एक जगह और वे अँग्रेजी पाठ्य पुस्तक के सम्बन्ध में खिलते हैं :—

'प्रत्येक पाठ्य विषय की ड्योढ़ी पर कतार बाँधे सिलेब्ल की दरार-शुदा उच्चारण-विधि एक्सेन्ट चिन्ह की तेज संगीन उठाये शिशुपालबध के लिए कवायद करती रहती थी। अँग्रेजी भाषा के इस पाषाण दुर्ग की ड्योढी पर हम सिर पटक-पटक कर हार जाते पर कुछ कर नहीं पाते थे।'

हिमालय यात्रा—बालक रवीन्द्र को अपनी शैशवावस्था में अपने महर्षि पिता की देख-रेख का लाभ नहीं मिला था किन्तु हिमालय यात्रा में उसकी बहुत कुछ कमी पूरी हो गई थी। हिमालय यात्रा से बालक रवीन्द्र की सबसे बड़ी समस्या यह हल हुई कि यज्ञोपवीत के पश्चात् घुटी चाँद पर अँग्रेजी स्कूल के लड़कों की व्यङ्गय-वर्षा से बच गये। महर्षि अपने छोटे पुत्र को किसी बात में हतोत्साह नहीं करते थे। उसको हिसाब रखना सिखाते, श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक याद कराते। अँग्रेजी का भी अभ्यास कराते। शिक्षा वे ही देते और संस्कृत का भी अभ्यास कराते। बङ्गला इस तरह पढ़ाते कि उसके साथ संस्कृत का भी ज्ञान होता जाता। इस यात्रा के सिलसिले में बोलपुर (जहाँ शान्ति निकेतन है) और अमृतसर भी रहना पड़ा। डलहौजी वे चार महीने रहे। इस यात्रा में कलकत्ते के मकान की सी सीमाबद्धता नहीं रही—इस यात्रा में बालक को पिता की उदार संगति का पूरा-पूरा लाभ मिला।

कवितारम्भ—बालक रवीन्द्र ने अपने से उम्र में बड़े एक भाँजे के प्रोत्साहन से सात वर्ष की अवस्था में ही 'पयार' छन्द में कविता लिखने की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। एक बार कविता कर लेने पर फिर उसका

उत्साह बढ़ गया। घर के कर्मचारियों से प्राप्त एक नीली कापी में बड़े-बड़े अक्षरों में कविताएँ अङ्कित होने लगीं। उस समय बालक रवीन्द्र ही अपनी कविताओं का लेखक मुद्रक और प्रकाशक था। उसकी भारी काव्य-सम्पत्ति नीली कापी के रूप में समा जाती थी। पीछे से नीली कापी का स्थान जिल्ददार लेट्स डायरी ने ले लिया था। उनकी कविता के विज्ञापन करने में उनके बड़े भाई बड़ा उत्साह प्रदर्शन करते थे। बालक की कविता सुनने के लिए वे जोड़-बटोर कर इष्ट-मित्रों को ले आते थे। इस हिमालय यात्रा में बालक की सुप्त कवित्व शक्ति जाग्रत हो उठी थी। बालक एक नारियल के पेड़ के नीचे पालती मार कर बैठ जाता और सुखपूर्वक कविता लिखता। इस शुभ कार्य में महर्षि का वरद प्रोत्साहन मिला था। उन दिनों में बालक रवीन्द्र ने कई आध्यात्मिक कविताएँ लिखीं। महर्षि की प्रातःकालीन प्रार्थना में रवीन्द्र को उन कविताओं को गाना भी पड़ता था। उन कविताओं में से एक कविता का उल्लेख उन्होंने अपनी जीवन-स्मृति में भी किया है। उसका भाषा अनुवाद इस प्रकार है—

'नयन तुम्हें देख न पाते तुम हो नयन-नयन में'

हैमलेट पढ़ते समय विद्यार्थी रवीन्द्र ने उसका बङ्गला अनुवाद पद्य में किया था।

भानुसिंह पदावली—रवीन्द्र बाबू प्राचीन कवियों के अनुकरण में बड़े सिद्धहस्त थे। उन्होंने किसी से अँग्रेज बालक कवि चैस्टर्टन की बात सुनी थी। वह अनुकरण करने में बड़ा कुशल था। उसी से उनके मन में अनुकरण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। विद्यापति और चण्डीदास के अनुकरण में उन्होंने 'भानुसिंह पदावली' की रचना की और उसे यह बतलाया कि वह किसी प्राचीन कवि की पुस्तक है। वह क्रमशः 'भारती' नाम की पत्रिका में (वि० सं० १९३४-३८) प्रकाशित होने लगीं। डाक्टर निशिकान्त चटर्जी जर्मनी में गीत काव्य पर अनुसन्धान कर रहे थे। उन्होंने बङ्गाल के प्राचीन कवियों में भानुसिंह का बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया। वास्तव में भानुसिंह रवीन्द्र का ही रूपान्तर था (भानु=

रवि, सिंह = इन्द्र)। कविता की प्रेरणा उत्तरोत्तर बढ़ती गई और बालकवि विश्व कवि बन गया।

विलायत यात्रा—रवीन्द्र को घर की शिक्षा बड़े उदार ढङ्ग से हुई और घर के साहित्य-संगीत कलापूर्ण वातावरण में उन्होंने बहुत कुछ सीखा किन्तु स्कूली शिक्षा में उन्हें विशेष सफलता न मिली। सत्रह वर्ष की अवस्था होने पर रवीन्द्र अपने बड़े भाई सत्येन्द्र नाथ के साथ योरोप की यात्रा पर गये। वे ब्राइटन (इंगलैंड) के एक स्कूल में भर्ती करा दिये गये। ब्राइटन से वे लन्दन बुला लिए गये। वहाँ वे कवियों और संगीतज्ञों के सम्पर्क में आये। लेटिन का भी थोड़ा बहुत अभ्यास किया। लंदन में वे डाक्टर स्कॉट के यहाँ रहते थे। स्कॉट दम्पति के सुख शान्तिमय-जीवन का उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है। विलायत में रवीन्द्र प्रायः डेढ़ वर्ष रहे किन्तु कोई डिग्री आदि नहीं लाये।

लौटने पर—इङ्गलैंड से लौटने पर रवीन्द्र नाथ ने कुछ दिन अपने भाई के साथ चन्दननगर में गंगा किनारे बिताये। यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य की गोद में उन्होंने संध्या संगीत के गीतों का निर्माण किया। इन्हीं दिनों ९ दिसम्बर सन् १८८३ को कवि का विवाह श्रीमती मृणालिनी देवी से सम्पन्न हुआ। उनकी भाभी ज्योतिइन्द्र नाथ की धर्म-पत्नी के २० मई सन् १८८४ को स्वर्गवास हो जाने से उन के मन पर दुख की गहरी छाया पड़ी।

शान्ति निकेतन—पितृदेव की आज्ञा से रवीन्द्रबाबू जमीदारी के काम करने को राजी तो हो गये किन्तु पहले योरोप की यात्रा का संकल्प पूरा करना चाहा। उन्होंने इटली, फ्रान्स, इंगलैंड आदि देशों का भ्रमण किया और वहाँ के लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, साहित्य और कला से घनिष्ट परिचय प्राप्त किया। उसके बाद वे शिलइदह में जमीदारी पर रहने लगे। किसानों के ग्रामीण जीवन में उनकी विशेष रुचि थी। उनकी कविता में ग्रामीण प्रकृति को महत्व का स्थान मिला है। किसानों के साथ उनका बड़ा सहृदयतापूर्ण व्यवहार रहा, फिर भी ग्राम के संकुचित वातावरण में उनका मन न रमा। उनकी आत्मा एक विस्तृत

कार्य क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए छुट-पटा रही थी । सन् १९०१ में जमीदारी के भार से मुक्त होकर कवि ने शान्ति-निकेतन के विद्यालय की स्थापना की । इसका श्री गणेश दो विद्यार्थियों से हुआ । किन्तु इन्होंने इस संस्था में अपने जीवन का सारा रंग घोल दिया था । रवीन्द्र को जो निर्वाह के लिए घर से मिलता उसका अधिकांश भाग इसमें खर्च होता । पति-प्राण मृणालिनी देवी ने अपने आभूषण भी इसके अर्पण कर दिये । रवीन्द्र को जो नोबुल पुरस्कार (करीब एक लाख बीस हजार रुपये) मिला था वह निधि भी इस महान यज्ञ की आहुति स्वरुप अर्पित हुई । सन् १९३६ में इसके लिए वे ८१ वर्ष की वृद्धावस्था में भी अपनी मण्डली के साथ अभिनय करने को दिल्ली गये थे । किन्तु गांधीजी को यह बात न रुची कि कवि इस अवस्था में इतना शारीरिक कष्ट उठावे । जितना (रु० ६०,०००) गुरुदेव लक्ष्य करके गये थे उस निधि की पूर्ति गांधीजी ने अपने एक भक्त द्वारा करा दी ।

शान्ति निकेतन की शिक्षा उन्मुक्त वातावरण में व्यक्ति के विकास की शिक्षा है । उसमें साहित्य, संगीत और कला की सर्वाङ्गीण शिक्षा होती है । अब वहाँ हिन्दी भवन बन गया है और विश्व भारती बिश्व-विद्यालय की भी स्थापना हो गई है । यह संस्था गीताञ्जलि की भाँति गुरूदेव का कीर्तिस्तम्भ है ।

यात्राएँ—सन् १९१२ में कवि ने तीसरी योरोप यात्रा की । इस यात्रा में ईटस और सी० एफ एन्ड्रूज जैसे मनीषियों के सम्पर्क में आये और योरुप को उनकी गीताञ्जलि का परिचय हुआ । भारत लौटने पर सन् १९१३ में उनकी गीताञ्जलि नोबुल पुरस्कार से सम्मानित हुई और उनकी कीर्ति विश्व-व्यापिनी बन गई । १९१३ में कलकत्ता विद्यालय ने कवि को डी० लिट की पदवी प्रदान कर कवि के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शन किया । १९१६ में कवि ने जापान की यात्रा की । उन दिनों जापान पूर्वी देशों के उत्थान का अग्रदूत समझा जाता था । जापान में दिये हुए व्याख्यानों का संग्रह 'नेशनेलिज्म' के नाम से प्रकाशित हुआ । उसमें उन्होंने बतलाया कि राष्ट्रीयता की भी सीमाएँ हैं और उनका उल्लंघन

दोष बन जाता है। वहाँ से वे अमरीका गये। वहाँ पर दिये हुए व्याख्यानों का संग्रह 'पर्सोनेल्टी' नाम से निकला। १९२४ में वे पूर्वी देशों में भ्रमण करते रहे। उन्होंने चीन और ईरान की यात्राएँ की। ईरान की प्रसिद्ध यात्रा सन् १९३२ में हुई। ये यात्राएँ विश्व-मैत्री भाव की स्थापना के उद्देश्य से हुई थीं।

इन दिनों वे स्वदेश के हित-चिन्तन में लीन रहे और विश्व-शान्ति की स्थापना में लगे रहे। अन्याय का वे सदा निर्भीकतापूर्वक विरोध करते रहे और गान्धीजी के कार्यों और सिद्धान्तों को वे नैतिक और कलामय पोषण देते रहे। ८१ वर्ष की अवस्था में स्वास्थ्य बिगड़ने लगा किन्तु उनका साहित्यिक कार्य चलता रहा। वे अपनी कविताएँ बोलकर लिखवाते रहे। मरने से कुछ दिन पूर्व ही उन्होंने मृत्यु के सम्बन्ध में एक कविता लिखाई थी। ७ अगस्त सन् १९४१ को भारत का रवि सदा के लिए अस्त हो गया।

साहित्य-सेवा—कवीन्द्र रवीन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा थी। वे उच्च कोटि के कवि तो थे ही, विस्तार और गुण दोनों में ही उनकी रचनाएँ अद्वितीय हैं। उन्होंने नाटक (जैसे फाल्गुनी, डाकघर, चित्राङ्गदा आदि) उपन्यास (जैसे गोरा) कहानियाँ (उनकी कहानियों में काबुली वाला बहुत प्रसिद्ध है) गद्य निबन्ध (जैसे जीवन स्मृति, साधना, Personality, Nationalism आदि) कविताएँ (जो 'चयनिका' और 'गीताञ्जली' आदि में संग्रहीत हैं) लिखीं। उनको गद्य और पद्य, बंगला और अँग्रेजी पर समान अधिकार था।

गीताञ्जली का अनुवाद देशी विदेशी प्रायः सभी भाषाओं में हुआ है। उनकी अङ्गरेजी गीताञ्जली के प्रायः चालीस संस्करण हुए थे। गीताञ्जली की कुछ चुनी हुई पंक्तियाँ उदाहरणार्थ श्री जीवनलाल प्रेम के हिन्दी अनुवाद से यहाँ दी जाती हैं।

× × ×

मेरे जीवन प्राण !

अपने अङ्ग-प्रत्यंग पर तुम्हारे स्पर्श को अनुभव करते हुए, मैं अपने शरीर को पवित्र रखने का प्रयत्न करूँगा।

तुम्हारा देवता वहाँ है, जहाँ—
मार्ग बनाने वाले श्रमिक
पत्थर तोड़ते हैं, तथा जहाँ—
कृषक कठोर भूमि को
उपजाऊ बनाने में संलग्न हैं,
वह उन्हीं के साथ
प्रखर उत्ताप तथा वर्षाकाल में
रहता है, तथा जहाँ
उसके वस्त्र भी धूलि-धूसरित हैं,
तुम भी अपना पवित्र परिधान—
उतार दो और उन्हीं की भाँति
उतर आओ धूलि में!

+ + + +

हे स्वामिन! मेरा ममत्व
इतना ही शेष रहे कि जिससे
मैं तुम्हें अपना सर्वस्व कह सकूँ।
मुझ में केवल इतनी ही अभिलाषा
शेष रहे कि जिसके आश्रय-स्वरूप
मैं तुम्हें प्रत्येक दिशा में अनुभव कर सकूँ
तथा समस्त पदार्थों में तुम्हें पा सकूँ
एवं प्रति क्षण आपको स्नेहांजली
अर्पण करता रहूँ!

+ + + +

मेरे शिशु! मैं जब तुम्हारे पास
यह बहुरंगपूर्ण खिलौने लाता हूँ—
उस समय मुझे समझ आ जाती है
कि बादलों तथा सरिताओं में

रंगों का मिश्रण क्यों है एवं
सुमन क्यारियाँ क्यों रंग-चित्रित हैं।

\+ + + +

जो जीवन-सरिता मेरी शिराओं में
अहर्निश प्रवाहित हो रही है, वही
सुन्दर-छन्द-तालमयी मर्मर नर्तन करती हुई
विश्व का सिंचन भी करती है।
यह वही जीवन है जो--
भूगर्भ से असंख्यों क्षुद्र तृणों के रूप में
आल्हादपूर्वक हरित पल्लवों तथा
सुगन्धित पुष्पों की शुद्ध समान
तरंगों में स्फुटित होता है।
यह वही जीवन है जो--
जन्म-मरण रूपी महासिन्धु के
अनन्त ज्वार-भाटों में किल्लोलित होता है।

\+ + + +

वैराग्य साधन में जो मुक्ति है वह मेरी नहीं
है आनन्दमय असंख्य बंधनों के बीच में
मुक्ति के स्वाद का अनुभव करूँगा।

विशेष--इस जीवनी में जीवन स्मृति के जो उद्धरण आये हैं वे श्री धन्य कुमार जैन के अनुवाद से हैं।

१० : विश्व वन्द्य महात्मा गांधी

इन्धन-रहित शुद्ध, अग्नि ज्वाल
नित्ययुवा तुम हे यशस्वि, सुप्रदीप्त भाल !
एकमात्र आत्मवश, उज्ज्वलित सर्वथैव एकरस,
शान्ति नहीं तुमको ; काल की अशान्ति नहीं तुमको ।

—'बापू' (सियारामशरण गुप्त)

× × × ×

सत्यु मनहु नर रूप धरि, धरम नीति अवतार ।
गान्धि भयो कलि काल महँ, हरन धरा को भार ॥

– गान्धी चरित-मानस

महा पुरुष लोग जब आते हैं, हम लोग उन्हें अच्छी तरह पहचान नहीं पाते क्यों कि हमारा मन भीरु और अस्वच्छ है । स्वभाव शिथिल है । अभ्यास दुर्बल है । हमारे मन में वह सहज-शक्ति नहीं है, जिससे हम महत्त को पूर्ण रूप में समझ सकें, उस को ग्रहण कर सकें—जो महापुरुष प्रेम देकर अपना परिचय देते हैं, उनको हम लोग अपने प्रेम से एक तरह समझ सकते हैं ।

—हम समझ गये हैं, 'वे गाँधी जी हमारे हैं' । उनके प्रेम में ऊँच-नीच

का भेद नहीं है, मूर्ख विद्वान का भेद नहीं है, धनवान दरिद्र का भेद नहीं है। उन्होंने सभी के बीच अपना प्रेम समान रूप से वितरित किया है। उन्होंने कहा है, सबका कल्याण हो, सबका मंगल हो, जो कुछ उन्होंने कहा है, वह केवल बातों से नहीं कहा है, दुख की वेदना से। ...उनका धैर्य देख कर महत्त्व देखकर, उनका संकल्प सिद्ध हो गया, किन्तु जोर जबरदस्ती से नहीं किन्तु त्याग द्वारा, दुख द्वारा, तपस्या द्वारा वे विजयी हुए हैं'—कवीन्द्र रवीन्द्र।

हमारा सौभाग्य—ऐसे थे महात्मा गाँधी। यह हमारा परम सौभाग्य है कि वे हमारे समय में ही आये और हमारे बीच में रहे। उन्होंने अपने तप और त्याग से भारत के प्राचीन आदर्शों को पुनर्जीवन प्रदान किया। उन्होंने दूसरों की हत्या का वीरत्व नहीं वरन् सत्य के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने का वीरत्व सिखाया। उन्होंने दुर्बलों को क्षमा नहीं वरन् सशक्तों को क्षमा का पाठ पढ़ाया। वे सत्य और अहिंसा के अस्त्रों द्वारा रक्तपात की कालिमा से अकलुषित क्रान्ति को भारत में लेकर आये और भारत को चिरसञ्चित दासता की पङ्क से मुक्त कराया। जब ऐश्वर्य-वैभव के दिन आये, रोशनी हुई और जुलूस निकले तब वे आर्त-मानवता की पुकार सुन कलकत्ते और नोआखली पहुँच गये। उन्होंने वहाँ भी हिंसा का बदला हिंसा से न लेकर प्रेम से लेकर आततायियों के हृदय पर विजय पायी। कठिनाइयों से उन्होंने हार नहीं मानी, गलतियों के स्वीकार करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। साध्य के साथ साधन की भी पवित्रता पर उन्होंने बल दिया और राजनीति को धर्मनीति में परिणित कर दिया। सत्य के लिए ही वे जिये और सत्य के लिए ही मरे। उन्होंने अपने जीवन और मरण से मानवता का गौरव बढ़ाया और मानवता की प्रतिष्ठा की। वे सच्चे अर्थ में महात्मा थे।

परिवार—गांधी जी का जन्म एक धर्मनिष्ठ वैश्य परिवार में हुआ था किन्तु उनके घर कई पुश्तों से काठियावाड़ की छोटी रियासतों की दीवानी का चला आता था। उनके पितामह श्री उत्तमचन्द गांधी पोरबन्दर के दीवान रहे। कुछ षडयन्त्रों के कारण उनको पोरबन्दर

छोड़ना पड़ा था किन्तु पोरबन्दर को छोड़ने पर भी उनकी स्वामि-भक्ति पोरबन्दर के प्रति बनी रही। पोरबन्दर से जाकर उन्होंने जूनागढ़ दरबार में शरण ली किन्तु उन्होंने नवाब को डेढ़े हाथ से सलाम किया। इस अशिष्टता के सम्बन्ध में पूँछताछ होने पर उन्होंने उत्तर दिया कि उनका सीधा हाथ तो पोरबन्दर का धरोहर है, उसका किस प्रकार प्रयोग करता।

माता-पिता—उनके पिता का नाम श्री कर्मचन्द गांधी था। ये भी पोरबन्दर के दीवान रहे किन्तु पीछे से राजकोट चले गये। मृत्यु के समय उनको वहीं से पेन्शन मिलती थी। वे राजस्थान के न्यायालय के भी सदस्य रहे थे।

वे यद्यपि बहुत पढ़े-लिखे न थे तथापि ईमानदार व प्रलोभनों से परे थे। वे भी अपने पिता की भाँति स्वामिभक्त थे। एक गोरे एसिस्टेन्ट पोलिटिकल एजेन्ट ने एक बार राजकोट के ठाकुर साहब के प्रति कुछ अपमानजनक शब्द कहे थे, उन शब्दों के प्रति उन्होंने आपत्ति उठाई। एजेन्ट ने इस आपत्ति को अपना अपमान समझा और कर्मचन्द गांधी से माफी मांगने को कहा। उन्होंने माफी मांगने से इन्कार कर दिया। उसके लिए वे कुछ घंटों के लिए अदालत में बन्दी बना लिए गये थे किन्तु जब एजेन्ट ने उनकी दृढ़ता देखी तब छोड़ दिया था।

गांधी जी की माता का नाम श्रीमती पुतलीबाई था। वे बड़ी धर्मनिष्ठ महिला थीं। मन्दिर में नित्य भगवान के दर्शन करके ही भोजन करती थी और चतुर्मास का व्रत बड़ी दृढ़ता से पालन करती थीं। वे भी बहुत पढ़ी-लिखी न थीं किन्तु सहज बुद्धि की उनमें कमी न थी। दरबार की स्त्रियों में उनका मान था। कठिन मामलों में उनसे परामर्श भी लिया जाता था।

जन्म और बाल काल—ऐसे ही सत्य और धर्म का व्रत रखने वाले परिवार में गांधी जी का जन्म आश्विन कृष्णा द्वादशी संवत् १९२५ (२ अक्टूबर सन् १८६९ ई०) को हुआ था। बालक का नाम मोहनदास रक्खा गया। गांधी जी की प्रारम्भिक शिक्षा सात वर्ष की अवस्था से पोरबन्दर

में प्रारम्भ हुई। आरम्भ से ही वे सत्यनिष्ठ थे। एक बार उनके स्कूल में इन्सपेक्टर आये। उन्होंने कक्षा के बालकों को कुछ अँग्रेजी के शब्द लिखने को कहा। उनमें एक शब्द Kettle था। उसका वर्ण विन्यास गांधी जी ठीक न लिख सके। उनके अध्यापक ने कई बार इशारा किया कि वे पास के लड़के से नकल करलें किन्तु यह उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। उन बालकों में मोहनदास ही ऐसा बालक निकला जिसके लेख में अशुद्धि थी किन्तु उस अशुद्धि ने उसके चरित्र की शुद्धता का परिचय दिया।

बालकपन में मोहनदास को खेल कूद में रुचि न थी। वह सीधा घर से स्कूल जाता और फिर घर वापिस आता। दो नाटकों ने—एक श्रवण कुमार और दूसरे हरिश्चन्द्र—ने उनकी सेवावृत्ति और सत्य-परायणता को और भी दृढ़ कर दिया। उन नाटकों का प्रभाव उनके ऊपर जीवन-प्रर्यन्त रहा।

उच्च शिक्षा—सन् १८८७ में जब वे सत्रह वर्ष की अवस्था के थे गांधी जी ने मेट्रीकुलेशन पास किया। उस समय छोटी अवस्था में विवाह हो जाते थे। गांधी जी का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था में ही हो गया था और सत्रह वर्ष की अवस्था में वे पितृ ऋण से भी मुक्त हो चुके थे।

मेट्रीकुलेशन पास करने के पश्चात वे कालेज की शिक्षा के लिए भावनगर गये किन्तु कुछ तो वहाँ उनका मन नहीं लगा और कुछ उनके कुटुम्ब के दो एक हितैषी श्री भावजी देव ने उनके बड़े भाई से कहा कि यदि घर में दीवानी की गद्दी कायम रखना है तो लड़के को विलायत भेजो। गांधी जी के पितृदेव की मृत्यु हो चुकी थी। विलायत जाने में माता के स्नेह के अतिरिक्त जाति वालों का विरोध भी बाधक था। जाति वालों के विरोध की तो गांधी जी को विशेष चिन्ता न थी किन्तु माता के स्नेह की चिन्ता अवश्य थी। माता ने तीन बातों की प्रतिज्ञा लेकर उनको समुद्र यात्रा की आज्ञा दे दी। वे तीन वचन ये थे—कि वे मदिरा-पान नहीं करेंगे, मांस नहीं खाएँगे और दूसरी स्त्री से कोई संसर्ग नहीं रखेंगे। इन तीनों वचनों का गांधी जी ने आजीवन दृढ़ता से पालन किया। वे प्रायः चार वर्ष विलायत में रहे।

विलायत की शिक्षा—विलायत की प्रारम्भिक परीक्षाएँ पास करके वे बैरिस्ट्री के लिए इनर टेम्पिल में भर्ती हो गये। विलायत के सामाजिक प्रलोभनों में वे अधिक नहीं पड़े। थोड़े दिन गाने-बजाने की शिक्षा अवश्य ली किन्तु उससे शीघ्र ही विराम ले लिया। उनको मितव्ययता का बड़ा ध्यान रखना पड़ता था। खर्च की बचत के लिए अपना खाना भी वे स्वयं बनाते थे। अन्य विद्यार्थियों की भाँति गांधीजी ने अपने अध्ययन को केवल औपचारिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने हाजिरी की खाना पूरी नहीं की वरन् कानून का वास्तविक अध्ययन किया।

विलायत से लौटने पर—विलायत से लौटने पर उनको अपनी स्नेहमयी माता के स्वर्गवास का दुखद संवाद मिला। उनको विलायत में यह संवाद नहीं भेजा गया था क्योंकि उसके शोक से अध्ययन में बाधा पड़ती। सामाजिक मान्यताओं की तुष्टि के लिए गांधीजी ने समुद्र यात्रा से लौटने पर प्रायश्चित भी किया किन्तु उनकी जाति वालों को उससे सन्तोष न हुआ। फिर भी वे जाति से वहिष्कृत हुए।

वकालत—गांधीजी ने बम्बई में वकालत प्रारम्भ की। वहाँ वे पहले मुकद्दमे में घबरा गये और मुकद्दमा छोड़कर चले आये। बम्बई में खर्चा भी अधिक था। बम्बई से राजकोट आये, वहाँ उनकी आय करीब तीन सौ रुपये की हो गई। वकालत के पेशे में सत्य की पूर्ण रक्षा नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त मुकद्दमा लाने वालों को कमीशन भी देना पड़ता था। उस काजल की कोठरी में से निष्कलङ्क निकलना एक कठिन कार्य था। इधर वे एक अंग्रेज अधिकारी के दुर्व्यवहार से कुछ निराश से भी हो गये थे। वे इससे त्राण चाह ही रहे थे कि इतने में पोरबन्दर के एक बड़े व्यापारी ने एक महत्त्वपूर्ण मुकद्दमे की पैरवी के लिए उनसे दक्षिण अफ्रीका जाने का प्रस्ताव किया। वह प्रस्ताव उनके बड़े भाई द्वारा गांधीजी के सम्मुख रखा गया। उन्होंने अपने भाई को उस प्रस्ताव की स्वीकृति दे दी और सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीका को प्रस्थान किया।

दक्षिण अफ्रीका में—कानूनी कार्यवाहियाँ बड़े लम्बे और पेचीदे

रास्ते से चलती हैं। प्रटोरिया में मुकद्दमा बहुत दिन चला किन्तु गांधी जी के प्रयत्नों द्वारा वह मुकद्दमा अदालत से बाहर पंचायत से तय हो गया। दोनों ही सेठ दादा अब्दुल्ला और सेठ तैयबजी आपस में सम्बन्धी भी थे। मुकद्दमा चालीस हजार पाउन्ड का था। अदालत में अधिक दिन चलने से दोनों की बरबादी होती। दोनों ने गांधीजी की बात मानकर अपनी सद्बुद्धि का परिचय दिया। गांधीजी उन वकीलों में से नहीं थे जो अपने लाभ के लिए मुकद्दमे को बढ़ाते। गांधीजी का कानूनी कार्य तो खतम हो चुका था और वे भारत लौटने को थे किन्तु वहाँ रहकर उन्होंने भारतीयों की जो अपमानजनक स्थिति देखी उसके कारण उन्हें वहाँ रुकना पड़ा।

राजनीति में प्रवेश—भारतीय लोग कुली कहलाते थे और स्वयं गांधीजी कुली बैरिस्टर कहलाते थे, उससे उनका हृदय क्षुब्ध हो उठा था। वहाँ के हिन्दुस्तानी लोगों में भी राजनीतिक चेतना जाग्रत हो उठी थी; गांधीजी रुक गये किन्तु उन्होंने अपनी सेवाओं के लिए कोई वेतन लेना स्वीकार नहीं किया। मई १८९४ में उन्होंने वहाँ नेटाल कांग्रेस की स्थापना की। उसी के साथ उन्होंने वहाँ के भारतीय प्रवासियों में रहन-सहन की सफाई आदि का प्रचार किया, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया जिससे कोई उन पर गन्दे रहने का आक्षेप न कर सके।

गोरों की क्रोधाग्नि—सन् १८९६ में गांधीजी कुछ दिनों के लिए भारत आये। भारत में जो नेटाल की स्थिति पर उन्होंने भाषण दिये थे उसके अतिरंजित विवरण नेटाल पहुँचे और उन्होंने वहाँ के गोरों की क्रोधानल को भभका दिया। सपरिवार नेटाल लौटने पर उनके जहाज को पहले तो क्वारनटाइन में रोका गया क्योंकि उन दिनों बम्बई में प्लेग थी। उसके पश्चात् जब वे शहर में घुसे तो गोरों ने गांधीजी को खूब पीटा और यदि उनके जान-पहचान की एक गोरी महिला जो कि पुलिस सुप्रिन्टेन्डेन्ट की पत्नी भी थी बीच में न पड़ती तो उनको जान से हाथ धोना पड़ता। पुलिस सुप्रिन्टेन्डेन्ट के व्यावहारिक कौशल से ही वे

आक्रमणकारियों के चंगुल से बचे। इस घटना का हाल विलायत तक पहुँचा। वहाँ के औपनिवेशिक मंत्री ने उन आक्रमणकारियों पर मुकद्दमा भी चलवाना चाहा किन्तु गांधीजी ने उदारतापूर्वक इसके लिए मना कर दिया।

बूअर युद्ध—सन् १८६६ में बूअर युद्ध आरम्भ हुआ। गांधीजी की न्यायपरायणता ने यह माँग की कि यदि हम ब्रिटिश नागरिकों के से अधिकार चाहते हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम उनकी युद्ध में मदद करें। गांधीजी ने भारतीय परिचारकों की एक टुकड़ी बनाई और उसके द्वारा युद्ध में रोगी परिचर्या का काम किया। उन लोगों की सेवाओं की प्रशंसा हुई और कार्य खतम होने पर पदक पुरस्कार भी मिले।

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह—सन् १६०१ में गांधीजी भारत लौटे और बम्बई में अपना कारबार स्थापित करना चाहते थे। कुछ ही महिनों पश्चात् दक्षिण अफ्रीका में स्थित भारतीयों की ओर से आन्दोलन का नेतृत्व करने का आमन्त्रण मिला। बूअर युद्ध के पश्चात् ट्रान्सवाल स्थित भारतीयों की दशा और भी खराब हो गई थी। एक काला कानून चालू था जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय के अँगूठे के निशान लिए जाने का आदेश हुआ। इसके अतिरिक्त केवल ईसाई विधि से किये हुए विवाहों को ही मान्यता मिली। गांधीजी ने इन कानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। जिन भारतीय अनुबन्धित मजदूरों की मियाद पूरी हो जाती थी उनको अपने छुटकारे के लिए तीन पाउन्ड का टेक्स देना पड़ता था। जो लोग हड़ताल करते थे उनको कोड़े मार-मार कर और कभी-कभी बन्दूक की नोंक की धमकी देकर उनको काम पर वापिस भेजा जाता था। इन लोगों के नेतृत्व में गांधीजी को दक्षिण अफ्रीका की जेलों की यम-यातनाएँ सहनी पड़ीं। भारत में इन घटनाओं की बड़ी जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई और भारत में गोरों के अन्याय के प्रति जोर की आवाज उठी। भारत के वाइसराय लोर्ड हार्डिज ने अपने एक भाषण में भारतीयों का पक्ष लिया। जनरल स्मट्स को झुकना पड़ा। गांधीजी और अन्य नेता मुक्त किये गये। इन शिकायतों की जाँच के लिए एक आयोग बना और

फलस्वरूप १६१४ में गांधी-स्मट्स समझौता हुआ और भारतीयों की बहुत सी कठिनाइयाँ (जैसे तीन पाउन्ड के टेक्स की, गैर ईसाई पद्धति के विवाहों की) दूर हुईं और हिन्दुस्तानियों की स्थिति सुधरी। यह गांधीजी के सत्याग्रह की पहली विजय थी।

भारत में कार्यारम्भ—गांधीजी के भारत आने की तैयारी करते करते पहला योरोपीय महायुद्ध छिड़ गया था। इस युद्ध में भी गांधी जी की उदारता ने उन्हें सहयोग के पथ पर अनुसरण करने को बाध्य किया। उन्होंने रोगी परिचर्या की एक टुकड़ी तैयार की और उसमें स्वयं भरती हुए और कस्तूरबा को भरती कराया। किन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण उनको भारत लौट जाने के लिए प्रेरित किया गया। वे १६१५ के आरम्भ में भारत आ गये और देश की दशा से परिचित होने के अर्थ उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया। भ्रमण का कार्य-क्रम समाप्त होने पर उन्होंने सावरमती में सत्याग्रह-आश्रम स्थापित किया।

उन दिनों चम्पारन में नील की खेती कराने वाले अँग्रेज व्यापारियों और मजदूरों में संघर्ष चल रहा था। गांधीजी उनकी समस्याओं के अध्ययन को चम्पारन गये किन्तु जाते ही उन्हें नोटिस मिला कि वे पहली ट्रेन से जिले से बाहर चाले जाएँ। वे वहाँ स्थिति का अध्ययन करने गये थे; मजिस्ट्रेट का आदेश अन्यायपूर्ण था। वे उसके आगे नहीं झुके और उसको मानने से इन्कार कर दिया। सत्य गांधीजी के पक्ष में था। उच्च अधिकारियों तक जब यह बात पहुँची तब वे बीच में पड़े और उन्होंने बिहार सरकार को जाँच के लिए एक आयोग बनाने के लिए बाध्य किया; गांधीजी उसके सदस्य बनाये गये। आयोग ने किसानों के पक्ष में अपना निर्णय दिया और आवश्यक सुधार हुए।

अहमदाबाद के श्रमिकों के कारण गांधीजी को प्रथम उपवास रखना पड़ा। खेड़ा में भी सत्याग्रह हुआ। फसलें बिगड़ गई थीं। पैदावार हुई नहीं थी। सरकार कृषकों से वसूली करना चाहती थी। गांधीजी ने पहले तो लगान की अदायगी स्थगित करने की अर्जी दी। उसकी सुन-

वाई न होने पर गांधीजी ने लगान अदा न करने की सलाह दी, संघर्ष चलता रहा किन्तु अन्त में समझौता हो गया।

सहयोग भावना—गांधीजी अहिंसावादी अवश्य थे किन्तु भारत के हित के लिए उन्होंने १६१८ में भारतीयों को फौज में भर्ती होकर युद्ध में भाग लेने को प्रेरित किया। उनका विचार था कि वे साम्राज्य में बराबर के अधिकारी कहलाने के तभी अधिकारी होंगे जबकि साम्राज्य के संकट-पूर्ण कार्यों में भी भाग लें। इसका फल निराशापूर्ण ही हुआ। मोंटेग्यू-चेम्स-फोर्ड सुधारों में स्वराज्य का पूरा-पूरा दिखावा भी नहीं था। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के अधिकारों में कोई कमी नहीं आई। स्थानीय स्वराज्य और शिक्षा आदि का भार प्रान्तों में हिन्दुस्तानियों को अवश्य सौंपा गया।

रोलेट एक्ट—अँग्रेज लोग लड़ाई जीत चुके थे। 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' की बात थी। एक हाथ से तथाकथित सुधार दिये दूसरे हाथ से पुलिस और मजिस्ट्रेटों की शक्ति बढ़ाकर स्वतन्त्रता के अपहरण के लिए रोलेट कमैटी की रिपोर्ट पर आधारित रोलेट एक्ट दिया। रोलेट बिल पास हुए दमन का चक्र खुले रूप से चलने लगा। गांधीजी की प्रेरणा से सत्याग्रह आरम्भ हुआ। ६ अप्रेल १६१६ को हड़ताल करने और व्रत रखने का आदेश मिला। गांधीजी के इस आदेश का देश भर में पालन हुआ। सरकार चिढ़ी और उसने बदला लेने की ठानी।

जलियानवाला बाग—इसी साल तेरह अप्रेल को वैशाखी का पर्व था। पंजाब में इस पर्व को नव वर्ष के रूप में मनाया जाता है। उसी दिन अमृतसर के जलियानवाला बाग में एक मेला था। उसमें स्त्री, बच्चे, बूढ़े और जवान सभी शामिल हुए थे। वहाँ कुछ व्याख्यान आदि भी हुए। जनरल डायर ने निर्दयतापूर्वक गोली चलवाई। लोगों के भागने के लिए भी कम गुञ्जाइश थी। जनता में भी विद्रोह की आग भभक उठी। पंजाब में फौजी कानून लगा। जनता उत्तेजित थी। गांधीजी ने जनता को शान्त किया और १७ अप्रेल १६१६ को सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया।

खिलाफत—युद्ध-विजय के फलस्वरूप तुर्की के सुलतान को अपमान-जनक शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। उसके बाहरी प्रदेश छीन लिये गये। उसकी शक्ति कम कर दी गई और उसके खलीफा के अधिकार समाप्त हो गये। इससे भारत के मुसलमानों में रोष उत्पन्न हुआ। वे अँग्रेजों से सम्मिलित मोर्चा लेने के लिए हिन्दुओं से मिले। महात्मा गांधी ने भी खिलाफत आन्दोलन में सहयोग दिया।

सन् १९२० में गांधीजी की प्रेरणा से कलकत्ते की कांग्रेस ने असहयोग का मार्ग निश्चित किया। लोगों ने सरकारी नौकरियाँ छोड़ीं, वकीलों ने वकालत छोड़ी, न्यायालयों का वहिष्कार हुआ। विद्यार्थियों ने स्कूल कालेजों से विदा ली और राष्ट्रीय संस्थाओं में भर्ती हुए।

वार्डोली और चौरीचौरा—सन् १९२२ में वार्डोली में कर बन्दी का निश्चय हुआ। सरदार पटेल उस आन्दोलन के मुखिया बने। गांधीजी वाइसराय से लिखा-पढ़ी कर ही रहे थे कि ५ फरवरी को चौरीचौरा जिला गोरखपुर में एक ऐसी दुर्घटना हुई कि उससे गांधीजी को बड़ा क्षोभ हुआ। उत्तेजित जनता ने वहाँ के एक थाने को जला दिया था। थानेदार और कई सिपाही उस आग में भस्म हुए। गांधीजी को यह अनुभव हुआ कि देश अभी अहिंसात्मक सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं है। गांधी जी ने सत्याग्रह को स्थगित कर रचनात्मक कार्य पर बल दिया। गांधी जी अहिंसा के पुजारी थे। वे दुश्मन की भी हिंसा नहीं चाहते थे। वे प्रेम से हृदय परिवर्तन करना चाहते थे। जनता की बागडोर गांधीजी के हाथ में थी। वे उसे गलत रास्ते से रोकते थे किन्तु फिर भी सरकार को उन पर विश्वास न था। १३ मार्च को गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया और उनको ६ वर्ष की सजा दी गई किन्तु एपेन्डीसाइटिस रोग के कारण दो वर्ष बाद ही छोड़ दिये गये। वे अँग्रेजी शासन से घृणा करते थे, अँग्रेजों से नहीं। ऑपरेशन के लिए कारामुक्त हो जाने पर भी उन्होंने अपने को एक अँग्रेज डाक्टर के हाथ में सौंप दिया। ऑपरेशन सफल हुआ।

साइमन कमीशन—फरवरी सन् १९२२ में साइमन कमीशन सुधार

सम्बन्धी जाँच के लिए आया। उसमें किसी भारतीय का न होना भारत के लिए अपमानजनक था। उसका वहिष्कार हुआ। 'साइमन वापिस जाओ' की पुकार चारों ओर गूँज उठी। सन् १६२६ में पंडित जवाहरलाल के नेतृत्व में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास हुआ। २६ जनवरी १६३० में लोगों ने पूर्ण स्वराज्य की प्रतिज्ञा ली। उसके पश्चात् असहयोग आन्दोलन ने फिर जोर पकड़ा।

नमक कानून का विरोध—नमक का कानून प्राकृतिक कानूनों के विरुद्ध समझा गया। जल की भाँति नमक भी हमारे जीवन के लिए आवश्यक है। गांधीजी के नेतृत्व में डांडी यात्रा हुई और नमक कानून तोड़ा गया। उस समय सरकार ने भी कुछ नहीं कहा। पाँच मई को गांधीजी फिर गिरफ्तार हुए। जनवरी सन् ३१ को गांधी-इरविन समझौता हुआ। राजनैतिक बन्दी छोड़े गये। दमन के कुछ कानून हटाये गये। गांधीजी ने अपने देश के क्रान्तिकारी युवकों को भी समझाया-बुझाया कि हिंसा से स्वराज्य नहीं मिलता।

द्वितीय गोलमेज कान्फरेन्स—२६ अगस्त सन् १६३१ को गांधीजी द्वितीय गोलमेज कान्फरेन्स में भाग लेने विलायत गये। उनके साथ मालवीय जी तथा देवी सरोजनी भी गईं थीं। स्वराज्य का प्रश्न साम्प्रदायिक भेद-भाव की आढ़ में स्थगित सा हो गया और गांधीजी खाली हाथ लौटे। इधर सरकार ने भी दमन चक्र फिर जारी कर दिया। ४ जनवरी सन् १६३२ को गांधीजी और सरदार पटेल तथा उनके अन्य साथियों को जेल में बन्द कर दिया गया। इतने में ही इंगलैंड के प्रधान मंत्री का साम्प्रदायिक निर्णय आया। उसमें अछूतों को हिन्दुओं से अलग करके भारतीय समाज में एक और दरार करने की चेष्टा की गई। गांधीजी का कहना था कि अछूत सदा अछूत नहीं रहेंगे और न उनको अछूत रहना चाहिए।

अनशन और पूना पेक्ट—गांधीजी के अनशन करने पर पूना पेक्ट हुआ और अछूतों ने भी पृथक निर्वाचन की माँग छोड़ दी। उनके लिए व्यवस्थापिका सभाओं में स्थान सुरक्षित कर दिया गया। सन् १६३५ में

नये सुधार आये। गांधीजी ने कांग्रेसी लोगों को मन्त्रिमण्डल में शामिल होने की आज्ञा दी इस शर्त पर कि वे ५००) रु० से अधिक तनख्वाह न लें, तीसरे दर्जे में सफर करें और तकली चलाना न भूलें।

युद्ध विरोध—सन् १६३६ में द्वितीय युद्ध छिड़ा। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को इस युद्ध में सहायता न देने का निश्चय किया क्योंकि यह युद्ध साम्राज्यवादी युद्ध था। सरकार युद्ध के उद्देश्यों का कोई सन्तोष-जनक उत्तर न दे सकी।

क्रिप्स मिशन—यद्यपि गांधीजी सन् १६३१ में कांग्रेस से औपचारिक रूप से अलग हो गये थे फिर भी वे कांग्रेस के सूत्रधार बने रहे। युद्ध के दिनों में ही क्रिप्स महोदय भारतवासियों को समझाने-बुझाने को एक सुधार आयोजना लेकर आए। कांग्रेस से वार्तालाप चला। उन दिनों मौलाना अबुल कलाम आजाद कांग्रेस के राष्ट्रपति थे। समझौता न हो सका।

भारत छोड़ो—गांधीजी की प्रेरणा से १६४२ में अँग्रेजों के लिए 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया गया। गांधीजी पकड़े गये। नेताओं के नेतृत्व से वञ्चित जनता ने मनमानी की, तार काटे गये। गांधीजी को जेल में दो महान् वियोग सहने पड़े। एक महादेव देसाई का और दूसरा कस्तूरबा गांधी का। ६ मई १६४४ में गांधीजी अस्वस्थता के कारण बिना किसी शर्त के छोड़ दिये गये।

अन्तरिम सरकार—केबिनेट मिशन से वार्तालाप के फलस्वरूप १६४६ में अन्तरिम सरकार बनी। मुस्लिम लीग से समझौते की बातें चलती रहीं। गांधीजी जिन्ना साहब के यहाँ कई बार गये भी किन्तु जिन्ना साहब अपनी हट पर अड़े रहे।

मुस्लिम लीग की कार्यवाहियाँ—मुस्लिम लीग ने सीधी कार्यवाही करना आरम्भ किया। कलकत्ता और नोआखाली के हत्याकाण्ड के कारण गांधीजी वहाँ भागे गये। नोआखाली में कठिन मार्गों में गाँधी जी नंगे पैर घूमे। निर्भयता और प्रेम के साथ वे मुसलमानों को राह पर लाये। उधर नोआखाली की प्रतिक्रिया बिहार में हुई। गांधीजी वहाँ भी दौड़े-

दौड़े गये और जान की बाजी लगा दी। वहाँ का क्षोभ शमन किया। अन्तरिम सरकार बन तो गई थी किन्तु उसमें संघर्ष चल रहा था। संघर्ष को मिटाने के लिए गांधीजी दिल्ली गये। लार्ड माउन्टबेटन से वार्तालाप आरम्भ हुआ। फलस्वरूप स्वराज्य की आयोजना बनी। अँग्रेजों से छुटकारा पाने के लिए पाकिस्तान की भी योजना स्वीकार करनी पड़ी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति—१५ अगस्त सन् १९४७ को जब भारत में स्वतंत्रता घोषित करने के अवसर पर दिल्ली में धूम-धाम और रोशनी हुई तब भारत का राष्ट्रपिता अपने कर्त्तव्य मार्ग पर डटा हुआ कलकत्ते में था। वहाँ हिन्दू-मुस्लिम झगड़े हो गये थे। वह उनके दमन में लगा हुआ था। कलकत्ते के झगड़े शान्त हुए कि दिल्ली में झगड़े खड़े हो गये। बूढ़ा राष्ट्रपिता फिर अपनी सन्तान की फूट मिटाने दिल्ली भागा गया।

निर्वाण—उसने जनवरी सन् १९४८ में अपना सोलहवाँ और अन्तिम अनशन आरम्भ किया। जब दोनों ओर से शांति और सद्भावना का आश्वासन मिला तभी उन्होंने अनशन छोड़ा किन्तु अनशन छोड़ने के पश्चात् वे बहुत दिन इस संसार में न रह सके। कुछ साम्प्रदायिक लोगों को मुस्लिमों की रक्षा की नीति अच्छी न लगी। गांधीजी अपने उपवास की कमजोरी को पूरा कर ही रहे थे कि अचानक एक पथ-भ्रष्ट युवक ने साम्प्रदायिकता के वशीभूत होकर गांधीजी के प्रार्थना सभा में जाते समय उनकी हत्या कर दी। गांधीजी सदा के लिए इस संसार से बिदा हो गये। वे सत्य और अहिंसा के लिए जिए और उसी के लिए उनको अपने प्राणों का उत्सर्ग करना पड़ा।

उनका नश्वर शरीर इस संसार में नहीं है किन्तु आत्मा चिरकाल तक अपना शान्ति-सन्देश प्रसारित करती रहेगी।

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीप शिखोदय !
जिनकी ज्योति छटा के क्षण से प्लावित आज दिंगचल,
गत आदर्शों का अभिभव ही मानव आत्मा की जय,
अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिरि लोकोज्ज्वल ॥

एक सौ बाईस

मानव आत्मा के प्रतीक, आदर्शों से तुम ऊपर,
निज उद्देश्यों से महान्, निज यश से विशद, चिरंतन।
सिद्ध नहीं तुम लोक सिद्धि के साधक बने महत्तर,
विजित आज तुम नर वरेण्य, गण जन विजयी साधारण॥
—सुमित्रानन्दन पन्त

११ : योगी अरविंद

श्री अरविंद घोष देश की उन विभूतियों में से हैं जिन्होंने अँग्रेजी सभ्यता में आपद मस्तक निमग्न रहते हुए भी भारत माता की आर्त्त पुकार सुनी, निर्भीकतापूर्वक ब्रिटिश सरकार से लोहा लिया, देश में विद्रोह और क्रान्ति की लहर उठाई, जेल की यातनाएँ सहते हुए अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकार को पहिचाना और योग साधना में निरत रह कर मानसिक साम्य और शान्ति की दिव्य राशियों की विकीर्ण करने के शक्ति-केन्द्र बने। उन्होंने इस अशान्त और संघर्षमय संसार को गीता के कर्म-योग का पाठ पढ़ाया, एक संतुलनमय जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। उन्होंने मनुष्य को संसार में रह कर ही अपनी आन्तरिक आध्यात्मिकता का आनन्दमय अनुभव करना सिखाया। उन्होंने योग द्वारा मन की शिथिल शक्तियों से ऊपर उठने और आध्यात्मिक शक्ति ग्रहण करने की कला सिखाई। संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि देश की राजनीतिक जागृति में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा। बङ्ग-भङ्ग के फलस्वरूप उठाए हुए स्वदेशी आन्दोलन के वे बहुत बड़े प्रचारक थे और बुद्धिवादियों और क्रान्ति-कारियों को भारतीय आध्यात्मिकता की ओर ले जाने में उन्होंने सराह-नीय योग दिया। वे अरविंद की

ही भाँति जगत में रह कर जगत से निर्लिप्त रहे। उनके ऊपर 'साकेत' की यह उक्ति लागू होती है :—'रह कर भी जल-जाल में तू अलिप्त अरविंद'।

जन्म और बाल्य काल—सन् १८७२ की पन्द्रह अगस्त की पुण्य तिथि को हमारे चरित नायक का जन्म डाक्टर कृष्णधन घोष के घर कलकत्ते में हुआ। ये अपने परिवार के तीसरे पुत्र थे और सब से छोटे होने के कारण माता-पिता के विशेष लाड़ले रहे। डाक्टर साहब सिविल सर्जन के उच्च पद पर आसीन थे। उन दिनों इस पर पहुँचना भारतवासियों के लिए कठिन ही था। वे विलायत में शिक्षा और अनुभव प्राप्त कर चुके थे। इसी कारण उनके लिये यह पद कुछ सुलभ हो गया था। घर में धन की कमी न थी। जीवन का क्रम अंग्रेजी ढग से चलता था। पिता अधिक कार्य व्यस्त रहते थे किन्तु उनकी धर्मपत्नी स्वर्णकुमारी अपनी कार्य-कुशलता के कारण गृह प्रबन्ध में दत्तचित्त रह कर भी बच्चों की देखभाल भली प्रकार कर लेती थी। बालक अरविंद बड़ा मेधावी था और अपनी प्रतिभा का परिचय बचपन ही में देने लगा। वह साधारण बालकों की भाँति चंचल और खिलाड़ी न था। उसकी गंभीर प्रकृति को माता-पिता एक दोष समझते थे किन्तु वह उसके भावी आध्यात्मिक कार्य की एक भूमिका मात्र थी।

शिक्षा-दीक्षा—लालन के पाँच वर्ष समाप्त होने के कुछ पूर्व ही बालक अरविन्द अपने बड़े भाइयों (विनय भूषण और मनमोहन) के साथ एक मिशन स्कूल में भेज दिये गये। ये तीनों भाई ही, अपने पिता के प्रभाव के कारण उस स्कूल में प्रवेश पा सके। वहाँ का वातावरण बिलकुल अँग्रेजी था किन्तु वहाँ इन बालकों ने दिखा दिया कि भारतीय बालक अँग्रेजी रहन-सहन और शिक्षा में अंग्रेज बालकों से पीछे नहीं हैं। सात वर्ष की अल्पायु में ही बालक अरविन्द अपने दोनों बड़े भाइयों के साथ इंगलैंड पहुचाये गये। पहले वे मेनचेस्टर में एक अँग्रेजी परिवार में रखे गये। अरविन्द पहले से ही अंग्रेजी रहन-सहन में दीक्षित थे अतः उनको परिवार के लोगों से घुलमिल जाने में कठिनाई न हुई। डेवेट दम्पति ने बड़े स्नेह से इनकी देख-भाल की। छोटे होने के कारण

स्कूल में भर्ती न हो सके किन्तु स्कूली शिक्षा की कमी को डेवेट साहब ने बड़ी योग्यता से पूरा किया। वे लेटिन के माने हुए विद्वान थे। उन्होंने घर पर हो बालक अरविन्द को लेटिन पढ़ाई। सन् १८८५ में वे लंदन के सेन्ट पॉल स्कूल में भरती हुए और वहाँ की शिक्षा समाप्ति पर उनकी विशेष योग्यता के फलस्वरूप केम्ब्रिज में पढ़ने के लिये छात्रवृत्ति भी मिली। वे केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय में सुप्रसिद्ध किंग्स कालेज में भर्ती हुए। वहाँ दो वर्ष के अध्ययन में केवल पाठ्य पुस्तकों का ही नहीं वरन् दर्शन और साहित्य की अन्य पुस्तकों का भी गम्भीर अध्ययन कर डाला। अठारह वर्ष की अवस्था में ही आई० सी० एस० की कठिन प्रतियोगिता में बैठे। प्राचीन और नवीन साहित्य में अरविन्द पूर्ण दक्षता प्राप्त कर चुके थे। इसलिये अच्छे नम्बरों से परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, लेटिन और ग्रीक में तो उन्होंने भूतपूर्व उच्चता के आदर्श का भी अतिक्रमण कर दिया था। केवल घोड़े की सवारी में, जो उन दिनों में आवश्यक समझी जाती थी, वे उत्तीर्ण न हो सके। दूसरी बार जब परीक्षा का अवसर आया वे इम्तहान में न पहुँचे। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण था। उनका मन पहले ही से सरकारी नौकरी से उचट चुका था। उनका मन वास्तविक साहित्य साधना—लेखन और कविता—में था और वे अपने देश की दयनीय दशा से प्रभावित थे। भारत में अँग्रेजी नौकरशाही का जो जाति-भेद पर आधारित तिरस्कारपूर्ण व्यवहार था उससे सभी स्वाभिमानी भारतीय मर्माहत होते थे। ऐसी अवस्था में देश प्रेमी लोग विलायत में भी अपने हृदय की अशान्ति का परिचय दिये बिना नहीं रह सकते थे। अरविन्द के हृदय की ज्वाला की तपन का परिचय उनके द्वारा केम्ब्रिज की भारतीय विद्यार्थियों की 'मजलिस' में दिये हुए व्याख्यान में मिलता था। विलायत में 'लोटस एण्ड डेगर्स' नाम की एक क्रान्तिकारी संस्था भी बन चुकी थी। अरविन्द उसके भी सदस्य थे। विलायत के अध्यापक भी भीतर-भीतर साम्राज्यशाही के पोषक थे। अरविन्द अपने देश प्रेम के कारण उनकी आँखों में खटकने लगे थे। यदि वे घुड़ सवारी के इम्तहान में शामिल भी हो जाते तो भी किसी न किसी प्रकार असफल कर दिये

जाते। आई० सी० एस० की असफलता से वृद्ध पिता को निराशा अवश्य हुई किन्तु वह अरविन्द के लिये और भारत के लिये वरदान सिद्ध हुई।

बड़ौदा की नौकरी—बड़ौदा के महाराज बड़े स्वाभिमानी और स्वतन्त्र विचार के थे। इंग्लैंड में सन् १८६० के लगभग अरविंद का परिचय बड़ौदा नरेश से हो गया था। अरविंद के सन् १८६३ में स्वदेश लौटने पर महाराज बड़ौदा ने उनको सम्मानपूर्वक अपने यहाँ बुला लिया। उन्होंने वहाँ कई हैसियतों से काम किया। पहले माल विभाग में रहे फिर महाराज के सेक्रेटरियेट में, फिर बड़ौदा कालेज में अँग्रेजी के अध्यापक और वाइस प्रिन्सिपल के रूप में रहे। अंग्रेजी भाषा पर आप का असाधारण अधिकार था और उसके वे अधिकारी विद्वान् समझे जाते थे। सारे कॉलेज पर उनकी धाक थी। बड़ौदा की नौकरी के दिनों में ही उनका विवाह श्रीमती मृणालिनी देवी से हुआ था। विवाह के पूर्व उन्होंने अपने को विविध पागल कहा था फिर भी सती मृणालिनी ने उनके साथ वैवाहिक बन्धन में बंधना स्वीकार किया।

तैयारी का समय—वे तेरह वर्ष की बड़ौदा में नौकरी की अवधि में भारतीय भाषाओं का अध्ययन भी करते रहे। विलायत में उन्होंने पाश्चात्य भाषाओं में ही योग्यता प्राप्त की थी। भारतीय भाषाओं से वे अनभिज्ञ थे। बड़ौदा रह कर उन्होंने संस्कृत, बंगाली और अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। यह सांस्कृतिक साधना का समय था। इन दिनों वे भारत की प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार की संस्कृति से परिचित हुए और भारत की आत्मा के अधिक निकट आ गये। इसी अवसर में उन्होंने बहुत सी कविताएँ भी लिखीं, जो पीछे से पोंडिचेरी से प्रकाशित हुई थीं। बड़ौदा से कुछ महिनों की छुट्टी ले कर गुप्त रूप से राजनीतिक कार्यों में भाग भी वे लेते रहे।

राजनीतिक जीवन—बंग-भङ्ग के कारण सन् १६०५-६ में सारा भारत राजनीतिक विचारों से आन्दोलित हो उठा था। भारत के सामने एक नया प्रोग्राम आया। गरम दल जोर पकड़ने लगा। देशभक्त अरविंद के लिये नौकरी के सुख भोग में पड़ा रहना असम्भव हो गया।

उन्होंने बड़ौदा से त्याग पत्र दे दिया और राजनीति के क्षेत्र में खुले रूप से आ गये। अरविन्द ने गरम दल को एक नया बल प्रदान किया। तिलक महाराज के नेतृत्व ने उसको एक विशेष संगठन प्रदान किया और वह संगठन ऐसा बढ़ा कि फलस्वरूप कांग्रेस में एक दरार पड़ गई। नरम और गरम दल वालों के कार्यक्रम और मार्ग भिन्न हो गये। इधर तो सरकार के विरुद्ध लोकमत तैयार करने के निमित्त प्रचार और असहयोग का भी कार्य चलता रहा और उधर गुपचुप क्रान्तिकारी दल भी तैयार होने लगा और यत्र-तत्र बम विस्फोट भी सुनाई पड़ने लगे। एक नई स्वतंत्र सरकार बनाने की आयोजना चलने लगी। सरकारी स्कूलों और कालेजों तथा न्यायालयों का बहिष्कार होने लगा। अरविंद ने राष्ट्रीय शिक्षा के लिये एक राष्ट्रीय कालेज की भी स्थापना की थी। उसके वे प्रथम प्रिंसिपल रहे।

वन्दे मातरम् का सम्पादन—इस आन्दोलन को बल प्रदान करने के लिये 'वन्दे मातरम्' नाम के अँग्रेजी अखबार की १६०७ में स्थापना हुई।

अरविन्द ने ही इस अखबार का सम्पादन अपने हाथ में लिया। वह पत्र अपने क्रान्तिकारी विचारों की अभिव्यक्ति करने वाली भाषा के कारण बड़ा लोकप्रिय हुआ। उन दिनों भारतीय युवक और छात्रों में इसका प्रचलन बहुत बढ़ गया था। इसने राष्ट्रीय भावनाओं को प्रचारित करने में एक सराहनीय योग दिया। 'वन्दे मातरम्' का नाम ही अँग्रेजों के लिये हौआ बन गया। उसकी आलोचना अँग्रेजों के अखबारों में हुई और वह ब्रिटिश साम्राज्य के लिये खतरनाक चीज समझा जाने लगा।

राजद्रोह का अभियोग—क्रान्ति की लहर बंगाल को आप्लावित कर चुकी थी। नवयुवक सशस्त्र क्रान्ति द्वारा भारत का उद्धार करने की सोच रहे थे। १६०७ में खुदीराम बोस द्वारा मुजफ्फरपुर के कलेक्टर पर बम फेंका गया जो राजनीतिक वातावरण की गतिविधि का द्योतक था। अँग्रेज लोग चौकन्ने हो गये थे। चारों ओर धर-पकड़ होने लगी थी। सरकार को मानिक टोला में एक बम फेक्टरी का पता चला। वहाँ

के पुलिस अधिकारी उसके संचालन में अरविन्द का प्रमुख हाथ समझते थे। ५ मई सन् १६०८ को श्री अरविंद गिरफ्तारी के लिये सोते से जगाये गये और हथकड़ी डाल कर अलीपुर जेल में पहुँचाये गये। वहाँ वे एक साल तक रहे और उनको अनेकों प्रकार की यातनायें सहनी पड़ीं। मामला सेशन के सुपुर्द हो गया। सरकार की ओर से बैरिस्टर नोर्टन ने पैरवी की और अभियुक्तों की ओर से जिनमें अरविन्द के भाई वारीन्द्र घोष शामिल थे, उसकी चितरंजन दास ने वकालत की। अपने बचाव में जो लिखित वक्तव्य श्री अरविन्द ने दिये उनकी साहित्यिक शैली और प्रभावशीलता को विपक्ष के अँग्रेज बैरिस्टर ने भी स्वीकार किया। चितरंजन की वकालत ने मुकदमे में जान डाल दी और अरविन्द को निर्दोष प्रमाणित कर दिया।

अरविन्द की राजनीति अहिंसावादिनी न थी। 'वे शंठ प्रति शाठ्य कुर्यात' की नीति के मानने वाले थे, उन्होंने जेल से मुक्ति पाने पर देश की राजनीति को एक नवीन गति देने के लिये अँग्रेजी में 'कर्मयोगिन' और बङ्गला में 'धर्म' नामक पत्र निकाले। अरविन्द ने अपने लेखन और भाषण दोनों के ही द्वारा अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया।

पट परिवर्तन—'कर्मयोगिन' के कुछ लेखों पर सरकार की दृष्टि गई और श्री अरविन्द पर फिर मुकद्दमा चलाने का निश्चय किया गया। इधर अरविन्द में भी एक प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी। वे समझने लगे थे कि देश उनके क्रान्तिकारी विचारों के लिये तैयार नहीं है और अलीपुर जेल में उन्होंने जो योग साधना आरंभ कर दी थी उसी की पूर्ति के लिये उनका मन एकान्त के लिये छटपटाने लगा। वे पहले चन्द्रनगर गये और फिर वहाँ से पोंडिचेरी के फ्रान्सीसी राज्य में पहुँच गये। वहाँ वे ब्रिटिश सरकार की कुदृष्टि से सुरक्षित हो गये। सन् १६१० से उनकी प्रवृत्ति पूर्णतया योग की ओर हो गई और उन्होंने कांग्रेस के सभापतित्व को भी अस्वीकार कर दिया।

अरविन्दाश्रम—अरविन्द ने अपनी योग साधना के लिये एक आश्रम की स्थापना की। योग साधना की ओर श्री अरविन्द का झुकाव

बड़ौदा की नौकरी में संस्कृत के अध्ययन के साथ ही हो गया था। जेल के जीवन में वह और भी निश्चित और दृढ़ हो गया था। पांडिचेरी पहुँच कर वह एक निश्चित विधि के साथ होने लगा। सन् १९१० से १९१४ तक मौन साधना की। सन् १९१४ में उन्होंने 'आर्य' नाम का एक आध्यात्मिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया और वह सन् १९२१ तक सुचारु रूप से चलता रहा। उनका अधिकांश साहित्य प्रकाशित हुआ। उनकी पुस्तकों में प्रमुख यह हैं—Essays on the Gita, Life Divine, Synthesis of Yoga। अरविन्द के योगाश्रम की स्थापना पहले-पहल पाँच शिष्यों के छोटे केन्द्र से हुई। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती गई व छः सौ तक पहुँच गई। आश्रम का जीवन बड़ा सरल और सात्विक था। उस में जाति-पाँति, वर्ण, रंग या और किसी प्रकार का देशीय या प्रान्तीय भेद भाव न था। एक फ्रान्सीसी महिला मेडम पाल जो माँ के नाम से प्रसिद्ध हैं इस आश्रम की प्रधान साधिका और सन्चालिका रहीं। वे ही योगी अरविन्द और साधकों के बीच की संदेश वाहिका बनी रहीं। योगी अरविन्द ऊपर के कमरे में साधना में लीन रहते थे और उनके भक्तों को साल में चार बार ही दर्शन होते थे। इस आश्रम में योगी अरविन्द ने प्रायः ४० वर्ष तक निवास किया। इस आश्रम में सत्य के अन्वेषक और योग के साधक प्रायः सभी प्रान्तों से आते थे। हमारे हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत भी उस आश्रम में रह आये हैं। उनके उत्तर कालीन साहित्य पर अरविन्द का बड़ा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने बड़ी भावुकता के साथ अरविन्द को अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट की है:

'श्री अरविन्द को मैं इस युग की महान तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण सन्तोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मण्डित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला।'

योग में रत रहते हुए भी श्री अरविन्द भारत की कल्याण कामना उनके मन में सर्वोपरि रही। विशेष अवसरों पर वे अपने राजनीतिक

विचारों को भी प्रकाश दे देते थे। दूसरे महायुद्ध में उन्होंने अपना मत मित्र राष्ट्रों के पक्ष में दिया था। क्रिप्स की आयोजना के पक्ष में भी उन्होंने अपनी अनुमित प्रदान की थी। भारत को स्वराज्य मिलने पर उन्होंने हर्ष भी प्रगट किया था। संसार से वे निर्लिप्त थे किन्तु उनकी वाणी जन हितार्थ सदा मुखरित होती रहती थी। वे अपने पत्रों द्वारा शिष्यों का निर्देशन भी करते रहते थे। मनुष्य को वे अपनी उच्चतर आत्मा के सम्पर्क में लाने का प्रयत्न करते रहे।

पाँच दिसम्बर सन् १९५० की रात्रि को योगी अरविन्द ने अन्तिम समाधि ली। इस प्रकार उनकी ७८ वर्ष की लम्बी जीवन यात्रा समाप्त हुई।

डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों मे योगीराज के जीवन का उद्देश्य हम नीचे लिख रहे हैं :

The central need of contemporary man is integration, the achievement of harmony within himself which will be reflected in his relations with the world. To usher in the reign of the integrated man is the main purpose of Sri Aurobindo's life and teaching.

—*S. Radhakrishnan.*

अर्थात समसामयिक मनुष्य की केन्द्रीय आवश्यकता एकीकरण है अर्थात अपने भीतर उस साम्य का, जो कि संसार के साथ उसके सम्बन्धों में प्रतिफलित होगा, अनुभव करना है। श्री 'अरुबिन्दो' के जीवन और उनकी शिक्षाओं का मूल उद्देश्य उस एकीकृत मानव के राज्य में प्रवेश कराना है। संक्षेप में उनका उद्देश्य मनुष्य में मानसिक साम्य का अनुभव कराना है।

अन्त में हम श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी द्वारा की हुई एक भेंट के विवरण से कुछ उद्धरण देकर इस जीवनी को समाप्त करेंगे।

शिक्षक के रूप में—श्री अरविन्द बड़ौदा कालेज में मेरे प्रोफेसर थे। १९०४ की उनकी उग्र राष्ट्रीयता ने मेरे प्रारम्भिक दृष्टिकोण का निर्माण

किया था। बाद में मैं उनकी रचनाओं को यदा-कदा पढ़ लिया करता था। फिर भी मैं अपने को प्रत्यक्षतः अधिकाधिक कार्यान्वित ही अनुभव करता था।

दर्शन और वार्तालाप—जब मैं ४० वर्ष की दीर्घ अवधि के पश्चात उनके दर्शनार्थ गया तब मैंने अपने सम्मुख एक सर्वथा परिवर्तित, तेजस्वी, आनंदमय एवं दैवी शान्ति से परिपूर्ण विभूति को देखा। श्री अरविन्द ने मुझसे धीमी, स्पष्ट ध्वनि में बातचीत की जिसने मेरे अन्तस्तल की गहराई को आन्दोलित कर दिया।

मैंने उनसे अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं के विषय में कहा—"मैं सांसारिक चिन्ताओं के कारण मृतप्राय होगया हूँ।"

महर्षि ने कहा—"आत्मज्ञान का विकास करने के लिए तुम्हें संसार का त्याग करने की आवश्यकता नहीं। धैर्य खोकर तुम प्रगति नहीं कर सकते। मैंने तुम्हें लिखा था कि मैं तुम्हारी सहायता करूँगा और अपने ढ़ंग से मैं तुम्हारी सहायता कर ही रहा हूँ। तुम्हारे अन्दर प्रकाश है और प्रेरणा भी। अपने पथ पर बढ़ते जाओ। अपनी स्वाभाविक क्रमिक उन्नति में विश्वास न खोना। मैं तुम्हारी प्रगति का ध्यान रखूँगा।"

इसके बाद हमने भारतीय संस्कृति, उसकी वर्तमान संकटकालीन अवस्था, यहाँ तक कि हिन्दू कोड के बारे में भी चर्चा की। मैंने कहा—"नई पीढ़ी का युवकवर्ग ऐसी मान्यताओं और सिद्धान्तों से पोषित हो रहा है जो भारत के उच्च जीवन को नष्ट कर रहे हैं।" इस पर श्री अरविंद ने प्रत्युत्तर दिया—"श्रद्धा की इस कमी को तुम्हें दूर करना चाहिए। यह तो एक अस्थायी स्थितिमात्र है।"

महर्षि के अन्तिम क्षण—दिसम्बर १९५० में उनका देहांत होगया। हमारे महावाणिज्य-दूत ने दिल्ली में सबसे पहले मुझे टेलीफोन द्वारा इसकी सूचना दी। दो घंटे तक मेरा मस्तिष्क शून्यवत हो गया। मैं नहीं जानता क्यों? गाँधी जी मेरे बहुत निकट थे, किन्तु ऐसा अनुभव मुझे उनकी मृत्यु से भी नहीं हुआ। उनके अंतिम क्षणों में मैं उपस्थित न था; पर उसके बाद मेरा मन बराबर उनकी ओर खिंचता था।

श्री अरन्दि का उपचार करने वाले डा० बी० सी० सान्याल थे। उन्होंने मुझे श्री अरविन्द के अंतिम दिनों का हाल बताया। जब वह कलकत्ता से आये तब श्री अरविन्द आँखें बंद करके पलंग पर आधे लेटे हुए थे। डाक्टर ने निकट आकर चरण छूए। महर्षि ने आँखें खोली, असाधारण ढंग से एक सुन्दर मुसकराहट की और डाक्टर के सिर पर हाथ रखा। डाक्टर ने उनसे पूछा कि आपकी तबियत कैसी है और आपको क्या शिकायत है।

महर्षि ने कहा—"ओह, कोई विशेष बात नहीं है।" "क्या आप कोई औषधि लेंगे?" "तुम मुझे क्या औषधि दे सकते हो?" उन्होंने पूछा। अगले दिन वह कुछ अच्छे थे। वह मुसकराते जाते थे। उनके शारीरिक कष्ट की ओर संकेत करते हुए एक डॉक्टर ने उनसे पूछा "आपके प्रभु का क्या हाल है?" "प्रभु का विधान उतना ही शक्तिशाली है, जितने स्वयं प्रभु हैं" श्री अरविन्द ने उत्तर दिया।

३ दिसम्बर को उनकी हालत और बिगड़ गई। माता जी उनको देर तक खड़ी देखती रहीं और बोली "उनकी चेतना जा रही है।"

४ दिसम्बर की रात को उनका श्वास प्रश्वास कठिन हो गया; यों वह शान्त थे। माताजी ने कहा, "आज की रात हमारे लिये भयानक रहेगी।" श्री अरविन्द की साँस और कठिन होती गई। मैं उनके सिर के बिल्कुल निकट खड़ा था। मैंने उन्हें तनिक काँपते हुए पाया और फिर उनकी हृदय की गति बन्द हो गई। किन्तु उनका शरीर एक असाधारण तेज से चमकता रहा। डाक्टरी परीक्षा में भी १०० घंटे तक उसमें कोई सड़ान नजर नहीं आई। यह कहना कठिन था कि महर्षि मर चुके थे अथवा समाधि में लीन थे। तत्पश्चात् वह तेज जिससे शरीर चमक रहा था लुप्त हो गया और आश्रमवासियों ने श्री अरविन्द के पार्थिव अवशेषों को समाधिस्थ कर दिया।

१२ : युग का महानतम वैज्ञानिक-अल्बर्ट आइंस्टीन

"आधुनिक युग के उस महानतम वैज्ञानिक प्रोफेसर आइंस्टीन की मृत्यु पर मुझे बेहद दुख हुआ है। वह वास्तव में सत्य के अन्वेषक थे जो झूठ और बुराई के साथ कभी मेल कायम नहीं कर सके। आज के संसार में जहाँ अन्धकार का साया बढ़ रहा है वे प्रकाश स्तम्भ थे। वे उन कमजोरों के लिये शक्ति थे जो आज अपनी मजबूरियों का शिकार बन गये हैं।"

—जवाहरलाल नेहरू

जन्म और बाल्यकाल

आइंस्टीन का जन्म १४ मार्च सन् १८७६ को जर्मनी के अल्म नामक स्थान में एक साधारण से यहूदी परिवार में हुआ था। उनके पिता इलैक्ट्रिक टैक्नीकल वर्क्स के मैनेजर थे। स्कूल में न्यूटन की तरह वे भी बहुत साधारण विद्यार्थी रहे। स्कूल के मास्टर उन्हें एक अप्रतिभाशील और सुस्त विद्यार्थी समझते थे क्योंकि वह स्कूली पढ़ाई के प्रति उदासीन से रहते थे। लेकिन यही चीज उनके जीवन में आगे चल कर महत्त्वपूर्ण बनी। उन का तो रुझान ही दूसरी ओर था। वे शुरू से ही प्रकृति के रहस्यों को जानने के लिए उत्सुक रहते थे। उन्हें इतिहास भूगोल की

पिष्टपेषित बातों से क्या लेना-देना था। प्रकृति के प्रति इस उत्सुकता का परिचय उनके जीवन में आरम्भ से ही मिलता है। उन्होंने अपनी जीवनी में लिखा है "प्रकृति का प्रथम आश्चर्य मैंने ४ या ५ वर्ष की अवस्था में देखा था, जब कुतुबनुमा की सुई के एक ही दिशा में रहने की क्रिया ने मेरे मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ी थी।" प्रारम्भ से ही वे प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने वाले शास्त्रों, गणित और विज्ञान की ओर आकर्षित हुए। १४ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी इस वैज्ञानिक अभिरुचि का परिचय देना आरम्भ कर दिया। उनके समीकरणों और ज्यामिति के जटिल प्रश्नों के प्रतिभापूर्ण हलों से उनके अध्यापकों को भी चकित रह जाना पड़ा। लेकिन स्कूल के वैज्ञानिक पाठ्यक्रम में विशेष रुचि न होने के कारण शीघ्र ही उनका स्कूली जीवन खतम हो गया और वे स्कूल से भाग खड़े हुऐ। बहुत समय तक उनकी शिक्षा ऐसे ही चलती रही।

आजीविका और खोज कार्य

आइंस्टीन की बाद की शिक्षा स्विटजरलैंड में पूरी हुई। यहीं ज्यूरिच विश्वविद्यालय से उन्होंने पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की और फिर वे पेटेंट सम्बन्धी कार्यालय में पेटेंटों के परीक्षक के स्थान पर कार्य करने लगे। दिन में नौकरी का कार्य करने के साथ शाम का समय उन्होंने अध्ययन और विचारने में लगाया, जिसके फलस्वरूप उनके तीन खोजपत्र प्रस्तुत हुए। इन्हीं खोजपत्रों ने उनको आइंस्टीन बनाया और इन्हींने उन्हें उन्नति के शिखर पर बैठा दिया। ऑस्ट्रिया में वैज्ञानिकों की कान्फ्रैंस जो सन् १६०८ में हुई थी उनके कार्यों से इतनी प्रभावित हुई कि उसने उन्हें ज्यूरिच विश्वविद्यालय का प्रोफेसर नियुक्त कर दिया। इस बीच उन्हें और भी अनेकों जगहों से अन्वेषण व अध्यापन के कार्य सौंपे गये।

सिद्धान्तों की व्याख्या और स्वीकृति

आइंस्टीन द्वारा प्रस्तुत किये गये तीन खोज पत्रों में सापेक्षवाद का सिद्धान्त (थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी) प्रमुख था। उनका यह सिद्धांत

१६०५ में भौतिक विज्ञान की एक पत्रिका में उनकी थीसिस के रूप में आया। आपने अपने इस सिद्धांत को पूरी तरह से १६१६ में पूरा कर प्रकाशित किया। आइंस्टीन का सापेक्षतावाद का यह सिद्धान्त सबसे प्रसिद्ध समीकरण माना जाता है। इसके अनुसार जड़ और चेतन में कोई अन्तर नहीं रहता। १६१६ में जब उन्होंने यह सिद्धांत विधिवत् वैज्ञानिकों के सम्मुख रखा तो यह किसी की समझ में न आया। दूसरे महायुद्ध के छिड़ जाने के कारण भी उन्हें इसके लिये प्रमाण देने में कठिनाई हुई। अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करना उनके लिये जीवन और मृत्यु का प्रश्न बन गया। आवेश में वे यहाँ तक कह गये कि 'यदि मेरा सिद्धांत ठीक सिद्ध हुआ तो जर्मनी मुझे महान् जर्मन कहेगा और फ्रांस विश्व नागरिक के रूप में मेरा स्वागत करेगा और यदि गलत सिद्ध हुआ तो फ्रांस वाले मुझे जर्मनी का कहेंगे और जर्मनी वाले यहूदी।' कुछ समय तक उनके ये शब्द विश्व में गूँजते रहे। लोगों में एक सनसनी सी मची रही पर उनका यह सिद्धांत मान्य सिद्ध हुआ और न केवल फ्रांस अपितु तमाम विश्व ने उन्हें अपना नागरिक माना। यहाँ तक कि उन्हें १६२१ में इस पर नोबुल पुरस्कार भी प्रदान किया गया। यह उनकी सर्वश्रेष्ठ जीत थी। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का खंडन करके उन्होंने यह निश्चित कर दिया कि आधार के परिमाण के अनुपात में ही उस पर स्थित वस्तु का परिमाण भी कम या वेशी होगा। जैन धर्म ने भी अपने 'सप्तभंगी न्याय' में सापेक्षिता का प्रतिपादन किया है। जो सिद्धांत केवल दर्शन शास्त्र की पुस्तकों में सीमित था उसे उन्होंने भौतिक विज्ञान में पुष्ट कर दिया। यद्यपि आइंस्टीन ने अपने सिद्धांत की बड़ी सरलता से व्याख्या की है तथापि विश्व में बहुत कम लोग इसे समझते हैं। इसको भली प्रकार समझने वाले विश्व में केवल बारह व्यक्ति ही बतलाये जाते हैं। इसकी व्याख्या में अब तक करीब ४००० से ऊपर निबन्ध व ६०० से अधिक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। एक बार रिपोर्टरों ने जब श्रीमती आइंस्टीन से भी यह प्रश्न किया कि क्या वे सापेक्षितावाद का सिद्धांत समझ लेती हैं तो उन्होंने उत्तर दिया था "ओह, नहीं, यद्यपि मेरे पति ने मुझे इसको

कई बार बताया है तथापि मेरी खुशी के लिये इसका समझना आवश्यक नहीं है ।"

इस बारे में एक और सुन्दर प्रसंग है कि एक बार जब एक लड़की ने उनके इस सिद्धांत के बारे में पूछा तो उन्होंने मुस्करा कर कहा था "यह तो बहुत सीधा सिद्धांत है । जब मैं तुम जैसी सुन्दर लड़की से बात करता हूँ तो घंटा बीत जाने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि केवल ५ मिनट ही बीते हों, पर शुष्क वैज्ञानिकों की संगत में ५ मिनट बीतने पर भी ऐसा लगता है कि घंटा गुजर गया ।"

सापेक्षितावाद के अनुसार गति केवल निरपेक्ष रूप में नहीं जानी जाती है । उसका वास्तविक रूप निर्धारण दूसरी गतियों की अपेक्षा में ही होता है । जब हम रेल में यात्रा करते हैं तो हमें बाहर के खम्भे, वृक्षादि दौड़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और स्वयं स्थिरता का अनुभव होता है । क्रॉस करती हुई विपरीत दिशा से आती हुई गाड़ी बहुत तेज गति से चलती जान पड़ती है । यह सब इसी सापेक्षगति के कारण है । हमारी गति वह गति नहीं है जिसको हम देखते हैं, उसमें पृथ्वी और सौरमण्डल की गति भी शामिल है । जिस आधार पर हम चलते हैं, उसका आकार और उसकी गति भी हमारी गति की दिशा को प्रभावित करती है । इसलिए हमारी गति निरपेक्ष नहीं रह सकती है ।

आइंस्टीन के सापेक्षितावाद के इस सिद्धान्त से कई नये निष्कर्षों पर पहुँचने में मदद मिली है । इससे पूर्व किसी वस्तु को जानने के लिये लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई ही पर्याप्त समझी जाती थी । समय को इस सम्बन्ध में महत्ता नहीं दी जाती थी । पर आइंस्टीन के इस सिद्धान्त ने यह सिद्ध कर दिया है कि समय को उसके साथ सम्बद्ध किये बिना हम उस वस्तु की ठीक व्याख्या नहीं कर सकते । इसी प्रकार वस्तु का वास्तविक आकार भी बहुत कुछ दूरी की सापेक्षता रखता है ।

इसका एक प्रमुख दूसरा निष्कर्ष जो प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार शक्ति और पदार्थ वास्तव में एक ही हैं । वस्तु की गति और शक्ति के अनुसार ही उसकी पदार्थता मापी जा सकती है यानी शक्ति और पदार्थ

एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। उदाहरणस्वरूप, एक माशा कोयले को पूर्णतया शक्ति में बदल दिया जाय तो उससे २ हजार मन पानी भाप बनाया जा सकता है लेकिन साधारण रूप से उस कोयले को जलाने पर केवल एक माशा ही पानी भाप बनाया जा सकता है। अतः वस्तु को प्रत्येक अणु की पूर्णतया शक्ति में परिवर्तित करने की क्रिया से जो शक्ति प्राप्त होती है, वह साधारण शक्ति से लाखों गुनी प्रबल होगी। इसी के आधार पर आणुविक शक्ति का सिद्धान्त प्रयोग में आया है।

सापेक्षितावाद के बाद १६२६ में उनका दूसरा प्रमुख सिद्धान्त एकीकृत क्षेत्र (थ्योरी ऑफ यूनीफाइड फील्ड) प्रकाश में आया किन्तु इसका पूर्ण सुधरा रूप १६५१ में ही सम्मुख आ सका है। इस सिद्धान्त ने यह सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्मांड के प्रत्येक 'अणोरणीयान' और 'महतो महीयान' अंश का सुसम्बद्ध योजना के अनुसार निर्माण हुआ है। इसके द्वारा प्रत्येक ग्रह व उपग्रह एक ही सिद्धान्त की अनुरूपता करते हुए गतिशील रहते हैं। आइंस्टीन के ये सिद्धान्त वास्तव में हमारे प्राचीन मनीषियों के विचार शृंखला की कड़ियों से ही सम्बद्ध हैं और वे भौतिक तत्वों का आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

जर्मनी से निष्कासन—आइंस्टीन के ये सिद्धान्त शीघ्र ही जगत में फैल गये। कुछ समय जर्मनी में भी इनका खूब आदर हुआ। लेकिन उस जर्मन जाति के साथ जो घृणा तथा शक्तिवाद की दुहाई देती थी, उनकी कब तक पटती। वे एक शांतिवादी वैज्ञानिक थे और जाति के यहूदी। 'करेला और नीम चढ़ी' वाली बात हुई। वे शीघ्र ही नाजियों की आँखों में खटकने लगे। हिटलर का नाजीवाद आर्य जाति की श्रेष्ठता पर आधारित था जो घृणा, शक्तिवाद और युद्ध की उपादेयता का प्रतिपादक था। आर्य जाति पर गर्व करने वाले जर्मन लोग यहूदियों का अपने देश से उसी प्रकार उन्मूलन करना चाहते थे जिस प्रकार जन्मेजय ने अपने नागयज्ञ द्वारा नागों का विध्वंस किया था। जाति और शांति सम्बन्धी सिद्धान्तों के कारण, उस आइंस्टीन को, जिसका अस्तित्व किसी भी देश के लिए गौरव की वस्तु समझा जाता, जर्मनी से भागने को मजबूर होना पड़ा।

उनकी समस्त धन सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उनके सिर पर इनाम घोषित कर दिया गया। उन्होंने भाग कर अक्टूबर १६३३ में अमरीका आकर शरण ली। ब्रिटेन आदि अन्य देशों ने भी उन्हें अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया। लेकिन उन्हें प्रिन्सटन में उसी समय गणितशास्त्र की प्राध्यापकता प्राप्त हो गई और आइंस्टीन वहीं बस गये। १ अक्टूबर १६४० को उन्हें अमेरिकन नागरिकता भी प्राप्त हो गई। तब से मृत्यु-पर्यन्त उनका सारा समय प्रिन्सटन के ही एकान्त कमरे में कागज और पेंसिल के साथ बीता है।

अणुशक्ति के अग्रदूत—आइंस्टीन पक्के शान्तिवादी होते हुए भी कैसे अणुबम के जन्म देने के उत्तरदायी हुए, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसकी व्याख्या परिस्थितियों से ही हो सकती है। यद्यपि वह एटम बम के वास्तविक निर्माता नहीं थे तथापि उसकी कल्पना करने में अग्रगण्य थे। बात २ अगस्त १६३६ की एक रात की है जब आइंस्टीन ने अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट को एक पत्र लिखा था कि 'एनारिमो फेरमी और सेलार्ड द्वारा जो कार्य किया गया है उससे जान पड़ता है कि यूरेनियम एक ऐसा तत्त्व है जिसे भविष्य में शक्ति का प्रमुख साधन बनाया जा सकता है।.........उस नये तत्त्व से बम का निर्माण भी सम्भव है।' उनकी इस संहारक प्रवृत्ति को विश्व ने आश्चर्य से देखा। एटम बम बना और उससे जापान के नागासाकी व हिरोशिमा नगरों में लाखों निर्दोष युवा, वृद्ध, बच्चों की बरबादी हुई और तब आइंस्टीन ने अपनी स्थिति साफ करते हुए कहा "मैं यह कल्पना नहीं कर सकता कि आणुविक शक्ति बहुत काल तक वरदान स्वरूप रहेगी। इस समय तो मैं उसे एक धमकी ही समझता हूँ। और शायद यह उचित भी है कि वह इस रूप में रहे। वह मानव के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को प्रभावित कर सकती है जो कि बिना भय के नहीं कर सकती।" वास्तव में उन्होंने जर्मनी के फासिज्म की शक्तियों को नष्ट करने को ही इसकी कल्पना की थी। वे यह समझते थे कि जर्मनी में इस शक्ति का दुरुपयोग होगा। इसी लिये उन्होंने कहा था कि संसार में इसके दो ही फल हैं। या तो संतुलन

के साथ इसका मानवता की रक्षा में उपयोग हो या घृणा और असंतुलन के साथ मानवता के विनाश में। अमरीका को इसके निर्माण का सुझाव देकर उन्होंने पहली ही बात की कल्पना की थी। किन्तु प्रकाश हिरोशिमा और नागासाकी की होली फूँककर आया। इसके लिये हम आइन्स्टीन को उत्तरदायी अवश्य कह सकते हैं पर उतना ही जितना कि वायुयान के अविष्कर्त्ताओं को युद्ध की बमबारी के लिये। वे मानव के हाथ में अपार शक्ति अवश्य चाहते थे किन्तु उसके सदुपयोग का उत्तरदायित्व भी समझते थे। वे नैतिकता के परम उपासक थे और निःशस्त्रीकरण के पक्षपाती भी थे। हिरोशिमा के हत्याकांड को देखकर वे ग्लानि से भर गये। उन्होंने दुख में भर कर कहा "क्या हम यह नरसंहार करने से पूर्व इस बात का प्रमाण नहीं दे सकते थे कि हम क्या कर सकते हैं? इसके बाद से उन्होंने अणुशक्ति के प्रयोग के विरुद्ध लगातार योरोपीय देशों को चेतावनी देने का यत्न किया और उसके नियंत्रण का भार एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सौंपने का सुझाव दिया। अमरीका आदि शक्तिशाली देश अब भी एटमबम के दुरुपयोग में एक दूसरे की स्पर्धा कर रहे हैं और उनके एटमबम के परीक्षण आदि चल रहे हैं। यद्यपि हमारे देश के नेता श्री राजगोपालाचार्य ने उच्च स्वर से इनके दुष्परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित किया है और वे अमेरिका को स्वेच्छापूर्वक उनके नष्ट करने की नेक सलाह दे रहे हैं तदपि शक्त्युन्माद इस शांति सन्देश से प्रबल सिद्ध हो रहा है। नक्कारखाने में तूती की आवाज नहीं सुनाई पड़ती। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि विश्व नागासाकी और हिरोशिमा के नरसंहार से भयभीत अवश्य हो गया है और वह इस शक्ति के सदुपयोग की सोच रहा है। आणुविक शक्ति का शान्तिमय प्रयोग युद्ध की विजय से कहीं अधिक मानव को सुखी और सम्पन्न बनाने की सामर्थ्य रखता है। हमारे देश के प्रमुख वैज्ञानिक होमी भावा का इन शान्तिमय प्रयोगों में अग्रसर करने में बड़ा हाथ है।

आइंस्टीन के विचार—आइंस्टीन सत्य प्रधान संस्कृति के पुजारी थे। वे राजनीति में छल-छिद्र के कायल नहीं थे और वे समानता के समर्थक थे। इस सम्बन्ध में प्रजातन्त्र की महत्ता स्वीकार करते हुए उन्होंने

कहा है 'मेरे राजनीतिक आदर्श प्रजातन्त्रात्मक हैं। हरेक आदमी का व्यक्ति के रूप में आदर होना चाहिये और किसी आदमी को इतना न बढ़ाना चाहिये कि उसको देवत्व प्रदान किया जाय। यह भाग्य की विडम्बना है कि मैं अधिक प्रशंसा का पात्र बना हूँ। स्वेच्छाचार प्रेरित शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध उनका कथन था कि मेरी सम्मति में स्वेच्छाचार-पूर्ण परपीड़नात्मक विधान पतन की ओर ले जाता है क्योंकि शक्ति निम्न नैतिक स्तर के लोगों को आकर्षित करती है और मैं इसे अपरिवर्तनीय नियम समझता हूँ कि प्रतिभाशाली और स्वेच्छाचारी शासकों का उत्तराधिकार धूर्तों को मिलता है।'

अमेरिका में जिन दिनों मेकार्थी द्वारा वहाँ के प्रोफेसरों व अन्य वैज्ञानिकों से सफाई ली जा रही थी तो उन्होंने विरोध में कहा था "यदि फिर से नौजवान होऊँ और आजीविका का प्रश्न मेरे सम्मुख आवे तो मैं प्रोफेसर, वैज्ञानिक या विद्वान होने की अपेक्षा राज, बढ़ई या धोबी होना पसन्द करूँगा। क्योंकि वर्तमान दशाओं में इन्हीं लोगों को कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त रह गई है।" आइंस्टीन के विचार गाँधीजी से बहुत प्रभावित थे। गांधीजी की नीति और सच्चाई में उनका पूर्ण विश्वास था। नेहरूजी के एशिआई अफ्रीकी सम्मेलन के भी वे समर्थक थे और उन्होंने उसकी प्रशंसा में एक पत्र भी उन्हें लिखा था।

विद्यार्थियों की शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि विद्यार्थियों को सदा ध्यान रखना चाहिए कि अपने स्कूलों में जो आश्चर्यजनक वस्तुएँ उन्हें सीखने को मिलती हैं वे संसार के हर देश के सोत्साह प्रयत्नों और अपार परिश्रम द्वारा किये हुए अनेकों पीढ़ियों के कार्य का फल हैं। इन सब कार्यों का फल उनके हाथ में इसलिए सौंपा जाता है ताकि वे इसको ग्रहण करें, आदर करें, उसमें वृद्धि करें और एक दिन ईमानदारी के साथ उनका उत्तराधिकार अपनी सन्तति को छोड़ जायें।

उनका कहना था कि विद्यापीठ तो बहुत से हैं पर उदार शिक्षक थोड़े ही हैं। शिक्षण कक्ष अनेकों और विस्तृत हैं पर उन युवकों और युवतियों की संख्या थोड़ी है जो सत्य और न्याय के प्रति हार्दिक जिज्ञासा रखते हैं।

स्वभाव—अमेरिका जैसे आडम्बरपूर्ण देश में रहते हुए वे सरल से सरल बच्चों के सम्पर्क में आने में उन्हें विशेष प्रसन्नता होती थी। एक छोटी बच्ची ने तो उनकी इस प्रकृति का अपने सवाल हल करने में मदद लेने के लिए लाभ उठाया और उन्होंने खुशी से उसे मदद दी। आइंस्टीन का हृदय अन्दर से एकदम कोमल व आलोकमय था। वे कभी आडम्बर के नजदीक नहीं आये। उनकी सादगी, नम्रता और शान्तिप्रियता ने हर एक को मोह लिया था। आत्मप्रचार और ऐहिक यश से वे एकदम दूर भागते थे। उनका कहना था कि 'मैंने जो कुछ किया है उसके लिये इतना समादर और स्नेह मुझमें वास्तविक संकोच पैदा कर देता है। अपने तमाम कार्यों और सफलताओं को उन्होंने इतने में ही स्वीकार किया कि मैंने जो कुछ किया उसे लोगों ने बहुत बढ़ा चढ़ा दिया है, वास्तव में सुन्दर तो विज्ञान है।'

आइंस्टीन की दो शादियाँ हुई थीं। उनकी पहली पत्नी यूगोस्लाविया की सहपाठिनी थीं। उससे अल्वर्ट व एडवर्ड दो पुत्र हैं। दूसरी पत्नी उसकी चचेरी बहिन थी जिनसे दो लड़कियाँ हैं। लेकिन इस तमाम परिवार के होते हुए भी वे खोये-खोये से रहते थे और स्वयं बड़े लापरवाह थे। नहाने के साबुन से ढाढ़ी बना लेना आदि बातों में फैशन की अवहेलनाएँ उनके लिये साधारण सी बात थीं। वे भेदभाव के सर्वथा विरुद्ध थे। उनका कथन था कि यदि साबुन में भेदभाव किया जाय तो जीवन में भी भेदभाव का आना स्वाभाविक है। प्रशस्त मस्तिष्क, चाँदी सी उजली केशराशि सिर पर धारण किये, घनी बेतरतीबी मूछें, बिना लोहा किये साधारण सा काला कोट और ढीली नेकटाई व पतलून पहने, गर्मियों में अपनी रुचिकर आइस्क्रीम चूसते हुए उनको रोज सुबह ९ बजे अपनी इन्स्टीट्यूट की ओर जाते हुए प्रिन्सटन के बाजारों में कभी भी देखा जा सकता था। उनकी सरलता ही उनकी सम्पत्ति थी। उनकी यह सरलता और सादगी सब उसी महानता का परिचायक थी जो सच्चाई की ओर बढ़ते हुए मानव में भौतिक चीजों के प्रति रुचि के अभाव से उत्पन्न होती है।

आइंस्टीन को धन, दौलत तथा तड़क-भड़क से नफरत थी। नोबुल पुरस्कार का पूरा धन उन्होंने दान में दे दिया था। जब वह प्रिन्सटन में आये तो उन्होंने इतना कम वेतन माँगा कि उस संस्था वालों को उतना कम वेतन देने में शर्म मालूम हुई और उन्होंने अपना स्तर रखने के लिये उसका चार गुना यानी ५००० स्टर्लिंग वेतन उन्हें लेने के लिये आग्रह किया। रॉकफेलर फाउंडेशन से आये १५०० डालर के एक चैक पर वे कई दिनों तक लिखते रहे और बाद में अनावश्यक पाकर उसे फाड़ डाला। ऐसे ही एक और चैक को किताब में निशान के लिये लगाये रहे और फिर किताब ही कहीं खो दी।

आइंस्टीन के मनोरंजन के प्रिय साधन वायलिन और पियानो थे। नौका विहार भी उनका प्रिय मनोरंजन था। इनके अतिरिक्त चुटकुले लिखना उन्हें खूब पसन्द था। सिगार तो वे पीते ही थे किन्तु उन्हें शराब आदि से घृणा थी। उनका जीवन सर्वथा सरल और शान्तिमय था। सरल जीवन और उच्च विचार के वे जीवित उदाहरण थे।

१३ : विज्ञानाचार्य सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, जान लो इसका पता,
जो थे कभी गुरु, है न उनमें शिष्य की भी योग्यता !
जो थे सभी के अग्रणी आज पीछे भी नहीं,
है दीखती संसार में, विपरीतता ऐसी कहीं ?

—श्री मैथिलीशरण गुप्त (भारत-भारती)

प्राचीन काल में तो भारत ज्ञान-विज्ञान के सभी विभागों में अग्रणी रहा है, उसको जगद्गुरू कहा गया है, किन्तु विदेशी आक्रमणों के तारतम्य के फलस्वरूप प्राप्त चिरकालीन दासता के कारण उसकी प्रतिभा कुंठित होगई और वह अग्रणी क्या पिछलग्गू होने की भी योग्यता खो बैठा।

विज्ञान की साधना उतनी अन्तर्मुखी नहीं है जितनी कि बहिर्मुखी। वह प्रयोग और प्रत्यक्ष का विषय है। अँग्रेजी राज्य में तो 'देशहि में परदेस भयो अब जानिए' की कविवर सत्यनारायण लिखित 'भ्रमरदूत' की उक्ति सार्थक होती थी। हमको शिक्षा तो मिली, किन्तु मौलिक अनुसन्धान के अवसर कम मिले; हम विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़े ही रहे और विदेशों का बौद्धिक ऋण हम पर बढ़ता ही गया। अवसर और प्रोत्साहन का अभाव रहते हुए भी

कुछ माई के लाल विज्ञान के क्षेत्र में भी आगे बढ़ सके और उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त कवि के मार्मिक पश्चाताप को किसी अंशों में दूर करने में समर्थ हुए। ऐसे ही बिरले माई के लालों में सर जगदीशचन्द्र बसु, सर प्रफुल्लचन्द्र राय, डाक्टर मेघनाथ साहा प्रभृति वैज्ञानिकों के साथ सर चन्द्रशेखर बेंकट रमन का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। 'नहिं ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहि विद्यते' इसी परम पवित्र ज्ञान की अविरत साधना के लिए सरकारी नौकरी के मोटे वेतन और सुखमय जीवन को रमन महोदय ने ठुकराया और अनुसन्धान कार्य में पूर्ण तन्मयता से जुट गये। 'रमन प्रभावों' के लिए उनका नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उनकी प्रखर प्रतिभा की रश्मियाँ भारत के बाहर भी भारत का नाम उज्ज्वल कर रही हैं। भारत को उन पर गर्व है।

जन्म और वातावरण—सर चन्द्रशेखर का जन्म त्रिचनापल्ली में ७ नवम्बर सन् १८८८ में हुआ। उनके पितृदेव का नाम श्रीचन्द्र शेखर अय्यर था। घर के वातावरण और वंश परम्परा का बालक के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। श्री चन्द्र शेखर अय्यर को गणित और भौतिक विज्ञान में विशेष रुचि थी और संगीत के लिए उनके कान बड़े सधे हुए थे। वे आजीवन अध्ययन कार्य करते रहे।

असाधारण प्रतिभा—अन्य बालकों की भाँति रमन भी वाल्टेर के एक स्कूल में भेजा गया। वहाँ उसके अध्यापक उसकी असाधारण प्रतिभा से प्रभावित हुए। प्रारम्भ में रमन ने विज्ञान में रुचि दिखाई फिर श्रीमती एनी विसेन्ट के प्रभाव में आकर उसकी रुचि धर्म के अध्ययन की ओर हो गई। उसने बड़ी तन्मयता से रामायण और महाभारत का अध्ययन किया। उन धर्मग्रन्थों के अध्ययन से जो संस्कार बालक के मन पर पड़े वे उसके जीवन के प्रति दृष्टिकोण को सदा प्रभावित करते रहे हैं। धार्मिक ग्रन्थों की ओर यह रुचि चिरस्थाई नहीं रही। रमन का जन्म विज्ञान की उन्नति के लिये हुआ था। वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होना चाहते थे। वे फिर भौतिक शास्त्र का अध्ययन करने लगे। उन्होंने फिर वैज्ञानिक प्रयोगशाला को अपनी कार्यस्थली बनाया। जब

कि बारह-तेरह वर्ष की अवस्था तक अन्य बालक खेल-कूद में ही मस्त रहते बेंकेट रमन ने सन् १६०१ में अर्थात् १३ वर्ष की आयु में इन्टर की परीक्षा पास कर ली थी। और मद्रास के प्रेसीडेन्सी कालेज के बी० ए० के विद्यार्थी बन गये थे। बी० ए० उन्होंने प्रथम श्रेणी में पास किया और भौतिक विज्ञान में पदक प्राप्त किया।

बी० ए० पास कर लेने के पश्चात् रमन को यह निश्चय हो गया कि उसका भावी कार्य-क्षेत्र भौतिक विज्ञान ही रहेगा और वह उस दिशा में प्रयत्नशील होने लगा। एम० ए० में भी भौतिक विज्ञान का ही विषय और उस परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी का प्रथम स्थान प्राप्त किया। परीक्षा से विद्यार्थी ने अपनी रुचि और योग्यता का परिचय दे दिया।

विलायत न जा सके—एम० ए० पास कर लेने के पश्चात् आजीविका का प्रश्न आया। योग्यता के कारण सभी अध्यापकों का वह वात्सल्य-भाजन बना हुआ था। भौतिक विज्ञान के अध्यापक ने उसे अपने विषय में विशेषता प्राप्त करने के लिए विलायत जाने की सलाह दी। उसने केवल मौखिक परामर्श देकर ही सन्तोष नहीं किया वरन् उसने प्रान्त के शिक्षा अधिकारियों को उसे इंगलैंड जाने के निमित्त उपयुक्त छात्रवृत्ति देने के लिए प्रेरित किया। बालक की योग्यता को देखते हुए अधिकारियों ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया किन्तु 'श्रेयाँसि बहु विघ्नानि' —अच्छे काम में बहुत से विघ्न होते हैं—विलायत जाने के लिए डाक्टरी सार्टीफिकट की आवश्यकता पड़ती है। रमन का स्वास्थ्य जैसा चाहिए था वैसा न था। स्वास्थ्य का प्रमाण-पत्र वे न प्राप्त कर सके और मन मार कर भारतवर्ष में रह कर कुछ काम करने का निश्चय करना पड़ा।

वित्त विभाग में—रमन के मित्रों ने उसे वित्त विभाग की नौकरी के लिए प्रतियोगिता में बैठने की सलाह दी। वित्त विभाग की परीक्षा पास करने के लिए रमन को इतिहास, जिसमें उसे कोई अभिरुचि न थी, अर्थशास्त्र और संस्कृत का अध्ययन करना पड़ा। विज्ञान के विद्यार्थी के लिए ये सब विषय दुरूह थे। लेकिन रमन के मस्तिष्क में अपूर्व ग्राहक शक्ति थी। वह कठिनाइयों से घबराता न था। परीक्षा के लिए

वह कलकत्ते आया। इस कठिन परीक्षा में भी उसने शीर्ष स्थान प्राप्त किया। उस समय उसकी अवस्था केवल अठारह वर्ष की थी। उसी अवस्था में परीक्षा में उच्चतम स्थान पाने के कारण डेप्यूटी एकाउन्टेन्ट जनरल बना दिया गया। जिस योग्यता से उस परीक्षा को पास किया था उसी योग्यता से उसने अपने उच्च पद का कार्य-भार सँभाला।

विवाह—जाति की परम्परा के अनुसार तो रमन का विवाह बहुत जल्द हो जाना चाहिए था किन्तु उसने अपने अध्ययन में बाधा न डाली। नौकर हो जाने के पश्चात् विवाह के लिए वह इन्कार नहीं कर सकता था। उसका विवाह एक कुलबती ब्राह्मण कन्या के साथ हो गया।

अनुसन्धान कार्य—नौकरी और विबाह उसके जीवन का लक्ष्य न था। वह अच्छी नौकरी पाकर सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता था किन्तु उसके जीवन की एकमात्र साध थी—विज्ञान के अनुशीलन द्वारा भारत का नाम उज्ज्वल करना। विज्ञान की सेवा करने का अवसर न मिलने के कारण यह उच्च पद भी उसके लिए आकर्षणहीन बन गया। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' ऐसा संयोग हुआ कि एक दिन सांयकाल को जब वे कलकत्ते की ट्राम में बैठे हुए घर जा रहे थे और उनका मन इसी उधेड़-बुन में लगा हुआ था कि इस नौकरी के साथ जिसमें नीरस अङ्कों की साधना करनी पड़ती है विज्ञान का अनुशीलन किस प्रकार सम्भव हो सकेगा, उनका ध्यान एक नाम पट पर गया। उस पर लिखा हुआ था 'The Indian Association for the Cultivation of Science'। देखते ही उनके मन में एक विद्युत-रेखा सी दौड़ गई और उनको उसमें अपनी जीवन की साध की पूर्ति की सम्भावना चमक उठी। वे तुरन्त ट्राम से कूद पड़े और उस सस्था के सभाभवन में पहुँच गए। वहाँ कुछ वैज्ञानिकों की एक समिति बैठी हुई थी। उसके विचार विमर्श से वे बड़े प्रभावित हुए और उनको लक्ष्य की पूर्ति के स्वर्णिम स्वप्न दिखाई देने लगे। वे उसके मंत्री से मिले और अपनी समस्या बतलाई। उसने इनका वैज्ञानिक अनुसन्धान के प्रति अदम्य उत्साह देख कर उन्हें उस संस्था की प्रयोगशाला में काम करने की आज्ञा दे दी। अन्धा क्या

चाहे ? दो आखें। उनका अवकाश समय उसी प्रयोगशाला में बीतने लगा। वहाँ वे कलकत्ते के प्रमुख वैज्ञानिकों के सम्पर्क में ही नहीं आये वरन् सर आशुतोष मुखर्जी और सर गुरुदास बनर्जी जैसे प्रभावशाली व्यक्तियों से उनकी घनिष्टता हो गई। किन्तु सरकारी नौकरी (विशेषकर जब वह अखिल भारतवर्षीय हो) का एक अभिशाप यह भी होता है कि मनुष्य अपनी रुचि के स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं रह सकता। उन दिनों जब बर्मा भारत का ही अङ्ग था। रमन को रंगून भेज दिया गया।

विज्ञान-प्रेम—रंगून में वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए ऐसी सुविधाएँ न थीं जैसी कि कलकत्ते में किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनके उत्साह और रुचि में किसी प्रकार की कमी आगई हो। एक बार ऐसा हुआ कि उन्होंने सुना कि रंगून से कुछ दूर किसी संस्था में एक वैज्ञानिक यंत्र आया है। उसको देखने की उनकी इतनी उत्सुकता बढ़ गई कि वे उसके देखने के लिए तुरत्त रवाना हो गये। पत्नी की प्रेम भरी अनुनय विनय भी उनको उस कठिन संकल्प से विचलित न कर सकी। वे अर्द्ध रात्रि की स्तब्धता में वहाँ पहुँचे और वहाँ के अधिकारियों को अपने विज्ञान प्रेम से चकित कर दिया। उसको देखकर प्रातःकाल की उषा बेला में लौट आये। सारी रात जागते बिताई।

रंगून में उनको अपने पिता की मृत्यु का दुखद समाचार मिला। वे ६ महीने की छुट्टी लेकर मद्रास चले गये। वहाँ पिता के श्राद्ध आदि कार्य से निवृत्त हो कर अपने पुराने कालेज की प्रयोगशाला में जाने लगे। वहाँ वे अपनी रुचि के अनुकूल स्वच्छन्दता से काम करते रहे।

न्याय-प्रियता—छुट्टी समाप्त होने पर उनका तबादला नागपुर को हो गया। वहाँ वे बड़ी दक्षता और संलग्नता के साथ अपने पद के कार्य को करते रहे। वे बड़े न्यायप्रिय थे। यदि उनको निश्चय हो जाता कि किसी का दावा सत्य पर आधारित है तो वे रूढ़िवाद और लाल फीते के चक्कर में न पड़ कर उसका काम तुरन्त कर देते थे। एक बार एक व्यक्ति सौ सौ रुपये के अधजले नोटों का बंडल लाया। उनके नम्बर भी मुश्किल से पढ़े जाते थे। वे विकृत हो चुके थे। रमन ने अपना पूरा समय

लगा कर उनके नम्बरों को पढ़ने की कोशिश की और निश्चय हो जाने पर उसका रुपया दिला दिया। अन्याय और धोखेबाजी से उनको चिढ़ थी। जाली सिक्के या नोट बनाने वालों को वे निर्ममता के साथ उचित दण्ड दिलवाते थे। इस मामले में महाकवि भवभूति की निम्नोल्लिखित उक्ति उनके सम्बन्ध में सार्थक होती है :

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥

अर्थात् बज्र से भी कठोर कुसुम से भी कोमल लोकोत्तर लोगों के मन को कौन समझ सकता है।

स्वाभिमान—कुछ दिनों पश्चात् रमन फिर कलकत्ते भेजे गये। वहाँ वे उसी वैज्ञानिक संस्था में फिर आने-जाने लगे और फिर वैज्ञानिक अनुसन्धान में जुट गये। कलकत्ता विश्वविद्यालय उन दिनों सर आशुतोष के नेतृत्व में उन्नति के पथ पर चल रहा था। वहाँ विज्ञान के कालेज की स्थापना हुई और उसके दाता महादेय सर तारक नाथ पालिक ने भौतिक विज्ञान की एक पीठिका के लिये पर्याप्त धन सुरक्षित कर दिया था। धन तो था किन्तु उसके उपयुक्त अधिकारी व्यक्ति न था। सर आशुतोष का ध्यान रमन की ओर गया किन्तु उनको अपने मन में यह आशङ्का थी कि शायद रमन उच्चपद और उससे संलग्न उच्च वेतन का मोह न छोड़ सके किन्तु रमन उन लोगों में से न थे जो धन के पीछे लक्ष्य भ्रष्ट हो जायँ। उन्होंने उस पद को तुरन्त स्वीकार कर लिया। सर आशुतोष ने भी रमन की नियुक्ति में विश्वविद्यालय का गौरव समझा किन्तु एक वैधानिक कठिनाई सामने आई। वह यह थी कि सर तारक नाथ ने जो पीठिका स्थापित की थी उसकी एक यह शर्त थी कि उसका अधिकारी वह हो सकता है जो योरोप में शिक्षा प्राप्त कर चुका हो। सर आशुतोष भी ब्रिटिश रुढ़िवाद से बँधे हुए थे। योरोप उन दिनों विज्ञान के लिए काशी का सा महत्त्व रखता था। सर आशुतोष ने रमन से कहा कि जगह तुम्हारे लिये सुरक्षित रहेगी किन्तु तुम एक दो साल के लिये योरोप जाकर वहाँ की कोई डिग्री प्राप्त कर लो। रमन को भारतीय महा-

विद्यालयों का यह अपमान सहन न हो सका। उन्होंने कहा कि यह स्वाभिमान के विरुद्ध है कि योग्यता रखते हुए भी केवल नौकरी के अर्थ योरोप पढ़ने जाऊँ और भारतीय संस्थाओं के अपमान में सहयोग दूँ। वे अपने वचन पर दृढ़ रहे; उनकी दृढ़ता के आगे यूनीवर्सिटी के अधिकारियों को झुकना पड़ा। वह शर्त इनके लिये हटाई गई और रमन की नियुक्ति हुई। रमन योरोप नहीं गये थे किन्तु उनके मौलिक अनुसन्धानों की ख्याति सात समुद्र पार योरोप जा चुकी थी। फिर कोई कारण न था कि वे उस पद से वंचित रखे जायँ।

विश्वविद्यालय में—रमन अपनी स्वाभाविक तन्मयता और संलग्नता के साथ अध्यापन और अनुसन्धान के कार्य में जुट गये। कलकत्ता विद्यालय का विज्ञान का कालेज अनुसन्धान करने वाले विद्यार्थियों का आकर्षण केन्द्र बन गया और उनकी देख-रेख में जो अनुसन्धान कार्य हुए वे इतने महत्त्व के थे कि कलकत्ता विश्वविद्यालय का नाम योरोप में हो गया और वहाँ के लोग उस संस्था को स्पर्द्धा की दृष्टि से देखने लगे।

प्रथम विदेश यात्रा—रमन के मित्र यह चाहते थे कि वे योरोप जायँ और कलकत्ते विश्वविद्यालय में किये हुए कार्य को प्रकाश में लाएँ। सन् १६२१ में ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयों की महासमिति की एक बैठक इंगलेण्ड में हुई। उसमें कलकत्ते विश्व-विद्यालय की ओर से चन्द्रशेखर वेंकट रमन का नाम भेजा गया। रमन तो इस सुअवसर से लाभ उठाने में कुछ आगा-पीछा सोच रहे थे। किन्तु सर आशुतोष के समझाने-बुझाने पर उन्होंने जाने की स्वीकृति दे दी। वहाँ वे अधिक दिनों तक तो नहीं ठहरे किन्तु जितने दिन वहाँ रहे उतने दिनों में उन्होंने वहाँ के वैज्ञानिकों पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमा दी।

समुद्र का रंग—विलायत से लौटते समय वे जहाज में समुद्र की तरङ्गों की शोभा का प्राकृतिक आनन्द ही नहीं लेते रहे वरन् समुद्र के पानी के नीले रङ्ग के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ऊहा-पोह भी करते रहे। उन्होंने यह परिकल्पना की कि यह रंग प्रकाश के प्रभाव से उत्पन्न हो

जाता है। जब वे लौटकर आये तब उन्होंने प्रयोगों द्वारा अपनी परिकल्पना की सत्यता प्रमाणित कर ली।

सम्मान—रमन महोदय प्रयोगशाला में अपने ही प्रयोगों में समय नहीं बिताते थे वरन् अपने विद्यार्थियों को भी अनुसन्धान कार्य में प्रोत्साहन देते थे। सच्चा गुरू पारस से भी बढ़ा-चढ़ा होता है। पारस तो लोहे को सोना ही बनाता है, पारस नहीं बन सकता किन्तु गुरू शिष्य को अपना सा ही पारस बनाने के प्रयत्न करता है। रमन महोदय ने 'Indian Association for the Cultivation of Science' नाम की संस्था का, जिसने उनकी वैज्ञानिक अनुसन्धान की साध को पूरा किया था मंत्रित्व स्वीकार कर उसको भारतीय वैज्ञानिकों के एक सूत्रबद्ध होने का माध्यम बनाया। उन्होंने Indian Science Congress के संयोजन में भी सक्रिय भाग लिया। इस प्रकार वे स्वयं भी उठे और अपने साथ दूसरों को भी ऊँचा उठाया। उनका विज्ञान के प्रति अखण्ड अनुराग और उस क्षेत्र की सफलताओं को देखते हुए कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टर ऑफ साइन्स की पदवी से विभूषित किया। १६२४ में रमन Fellow of the Royal Society of London चुन लिये गये। यह एक बड़े गौरव की बात थी। इने-गिने वैज्ञानिक जिनके मौलिक अनुसन्धान सर्वस्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं उनको ही इस सभा की सदस्यता प्राप्त होती है।

कनाडा यात्रा—१६२४ में रमन को कनाडा में होने वाली ब्रिटिश साम्राज्य के वैज्ञानिकों की सभा में आमंत्रित किया गया। वे केवल दर्शक रूप से वहाँ नहीं जाना चाहते थे। जब उनको अपने प्रकाश सम्बन्धी अनुसन्धानों पर व्याख्यान देने के लिए बुलाया गया तभी वे वहाँ गये। वहाँ वे अमरीका और कनाडा के प्रमुख वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आये। उसी सफर में उन्हें दुनिया की सबसे बड़ी दुरबीन देखने का अवसर मिला। उस यन्त्र को देख कर वे कृतकृत्य हो गये और उन्होंने कहा 'यदि केवल इसको ही देखने भारतवर्ष से आना पड़ता तो भी मेरी यात्रा सार्थक होती।' कनाडा के प्राकृतिक दृश्यों से, विशेषकर वहाँ के पहाड़,

और ग्लेशियरों से वे बहुत प्रभावित हुए। उनमें उनको नयनाभिराम दृश्य ही देखने को नहीं मिले वरन् उनमें वैज्ञानिक अनुसन्धान की मूल्यवान सामग्री भी मिली। अमरीका से फिर इंगलैंड गये। वहाँ उनको वैज्ञानिकों से बड़ा सम्मान मिला।

रमन-प्रभाव—विदेश से लौटकर वे अपने अनुसन्धान कार्य में लगे। उन्होंने प्रकाश के सहारे वस्तुओं के आन्तरिक निर्माण की खोज की। इस अनुसन्धान कार्य में उन्होंने साबुन के बबूलों पर बड़े सफल प्रयोग किये और भौतिक विज्ञान में ख्याति प्राप्त रमन-प्रभावों की स्थापना की।

रमन ने भौतिक विज्ञान की पत्रिका भी निकाली और उसकी मान्यता पाश्चात्य देशों की पत्रिका के बराबर बढ़ गई। जर्मनी की भौतिक विज्ञान की एक समिति के लिए उन्होंने वाद्य यन्त्रों पर एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने वीणा और मृदङ्ग की ध्वनियों का वैज्ञानिक विवेचन किया।

रमन का तारतम्य—रमन महोदय की ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती रही। देश और विदेश में उनके सिद्धान्तों को मान्यता मिलने लगी। १६२६ में होने वाली साइंस की कांग्रेस के वे सभापति निर्वाचित हुए। उसी साल इटली की वैज्ञानिक समिति ने उनको स्वर्ण पदक प्रदान किया और ब्रिटेन के सम्राट् ने उनको 'सर' की पदवी से अलंकृत किया। विलायत की सुविख्यात Faraday Society की ओर से वे रमन प्रभावों की व्याख्या करने के लिए आमंत्रित हुए। वे सपत्नीक वहाँ पधारे और कई विश्वविद्यालयों में गये। एक विश्वविद्यालय ने सम्मानार्थ उन्हें Ph.D, की पदवी प्रदान की, दूसरे ने उनको अपना सम्मान्य Fellow बनाया और रायल एशियाटिक सोसाइटी ने पदक प्रदान किया। रमन का सबसे बड़ा सम्मान तब हुआ जब कि १६३० में उनको नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया। इस पुरस्कार की स्थापना एल्फ्रेड नोबुल ने जिसने कि एक बड़े प्रबल विस्फोटक का अविष्कार किया था, प्रायश्चित्त स्वरूप की थी। यह पुरस्कार हर वर्ष चार व्यक्तियों को दिया जाता है। (१) साहित्य का जो १६१३ में कवीन्द्र रवीन्द्र को मिला था। (२) एक सबसे बड़े शान्ति-स्थापक को मिलता है। (३) एक चिकित्सा के क्षेत्र में सबसे बड़े

आविष्कारक को दिया जाता है। यह पुरस्कर एक साल सिबेजोल के अविष्कारक को मिला था। (४) भौतिक विज्ञान का जो हमारे यहाँ के दो वैज्ञानिकों—मेघनाथ साहा और रमन—को मिला है। इस पुरस्कार को प्राप्त करने के लिये उन्हें स्वीडन की राजधानी स्टॉकहोम जाना पड़ा था। वह पुरस्कार और पदक स्वयं स्वीडन के बादशाह ने अपने हाथ से प्रदान किया था।

रमन १९३१ में विदेश से वापिस आये। वे अपनी इस सफलता से सन्तुष्ट होकर बैठे नहीं रहे। तब से निरन्तर अनुसन्धान कार्यों में सच्चे कर्मयोगी की भाँति लगे रहते हैं। वे इन सब सम्मानों को तो अपने वैज्ञानिक जीवन का श्रीगणेश ही मानते हैं। वे पुरस्कारों की परवाह नहीं करते हैं। इनको वे वैज्ञानिक जीवन की आकस्मिक घटनाएँ मात्र समझते हैं। उनको इन पुरस्कारों से इतनी ही प्रसन्नता होती है कि वे उनके मित्रों को प्रसन्नता देते हैं। वे स्वयं तो अपने कार्य की परवाह करते हैं।

"Honours, praises, rewards—these are mere incidents in the life of a true man of Science, and he passes over them without notice. If an occasion arises for his friends, as for example this assembly, to take notice of it, there is just this satisfaction that others are pleased at the rewards and recognition of the recipients. As for myself I look forward to my work,"

१३ : शान्ति के अग्रदूत—जवाहरलाल नेहरू

Asia has come awake and Jawaharlal Nehru is the man chiefly responsible for her unrest.

× × × ×

Sincere, disinterested in personal power, Nehru combines the dreamer and the man of action. He loves books and the arts but is equally at home in the rough and tumble.

—Donald Robinson "The 100 Most Important People."

पंडित जवाहरलाल नेहरू को महात्मा गांधी का राजनैतिक उत्तराधिकार प्राप्त हुआ है। पूज्य बापू ने उनके सम्बन्ध में स्वयं कहा था 'राष्ट्र उनके हाथ में सुरक्षित है।' सौभाग्य से वे ही स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री हैं। कुशल सारथी की भाँति देश की बागडोर को अपने धैर्य, साहस

और मानसिक सन्तुलन के साथ सँभाले हुए वे राष्ट्र रथ को क्रमशः उन्नति की ओर अग्रसर कर रहे हैं। उसको उन्होंने जातीय विद्वेष और साम्प्रदायिक घृणा और कट्टरता की खाई खन्दकों से बचाया है। पंडित जी ने भारतीय राजनीति को किसी संकुचित दृष्टिकोण से नहीं देखा है।

उसे उन्होंने विश्वबन्द्य बापू के विश्वमानवता के उदार आदर्शों में ढाला है। नेहरूजी राष्ट्रवादी होने में किसी से पीछे नहीं किन्तु उनकी राजनीति राष्ट्रीयता के संकुचित बन्धनों से सीमित नहीं हैं। उन्होंने कवीन्द्र रवीन्द्र के निम्नलिखित आदर्शों को अपनाया है—

जहाँ निडर मन शिर ऊँचा हो, बिना बन्ध मिलता हो ज्ञान।
जहाँ तङ्ग दीवारें टुकड़े-टुकड़े करें न विश्व महान।
जहाँ सत्य की गहराई से शब्द निकलते प्यारे हों।
जहाँ पृथक उद्योग पूर्णता की दिशि बाँह पसारे हो।
जहाँ सदा विस्तीर्ण विचारों और कर्म में मन रत हो।
है पितु उसी स्वतन्त्र स्वर्ग में जगता प्यारा भारत हो।

(अनुवादक-स्नेही)

जवाहरलाल जी के लिये मानव अपने ईश्वरदत्त अस्तिव मात्र के अधिकार से संरक्षणीय ही नहीं वरन् आदरणीय और उपास्य है। उनके लिये मानव मानव है। भारतीय मानवता के उदार प्राङ्गण में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख, जैन और बौद्ध का भेद-भाव नहीं—सब एक माता के लाड़ले पुत्र हैं, सबको समान अधिकार है।

स्वतन्त्रता और शान्ति के वे एकनिष्ठ उपासक हैं। उनकी उपासना प्रेमोन्माद की कोटि तक पहुँच जाती है। वे सभी प्रकार के राजनीतिक प्रभुत्व और साम्राज्यवाद के विरोधी रहे हैं। वे स्वतंत्रता की अखण्डता में विश्वास करते हैं। जहाँ-जहाँ उन्होंने विदेशी प्रभुत्व देखा वहीं की प्रजा को नैतिक बल प्रदान किया। उन्होंने भारत के साथ अन्य सब देशों की स्वतन्त्रता का ध्यान रखा तभी उनको एशिया का नेतृत्व मिला है। अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों में उनका मान है। उनके सम्मान में भारत का सम्मान है। भारत के वे लाड़ले पुत्र हैं। भारत को उन पर गर्व है। गम्भीर होते हुए भी वे जीवन की मुस्कान से उदासीन नहीं हैं। बच्चों के साथ खेलना पसन्द करते हैं। साम्प्रदायिकता के निराकरण में वे वज्र से कठोर हैं और दया और करुणा में वे कुसुम से भी कोमल हैं। तीव्र मतभेद रखते हुए भी लोग उनका आदर करते हैं। उनका छरहरा बदन,

निश्चित रेखाओं वाली मुखाकृति और सादा परन्तु सुरुचिपूर्ण परिधान में छिपा हुआ क्रियाशील और स्फूर्तिमय व्यक्तित्व उनके ऊपर नेतृत्व की ज्वलन्त छाप लगाए रहता है। वे देरी को बरदाश्त नहीं कर सकते, अधीर होकर कभी-कभी उनका मिजाज गरम हो जाता है जिसको वे स्वयं भी कठिनाई से सँभाल पाते हैं। मिजाज की तेजी उन्होंने अपने पिता से उत्तराधिकार में पाई है। 'कालि करे सो आज कर' उनका सिद्धान्त वाक्य है। 'I am not interested in excuses for delays, I am only interested in things done.' उनके ये शब्द जो नई दिल्ली की भौतिक प्रयोगशाला के प्रस्तर खण्ड पर अङ्कित हैं उनकी व्यावहारिक-बुद्धि के परिचायक हैं। वे साहस की मूर्ति हैं। कठिनाइयों से लड़ने को सदा तैयार रहते हैं। जीवन की कर्कशताओं से वे नहीं घबराते। अनीति का बिना किसी लगालेस के विरोध करते हैं। फिर भी उन्होंने कवि हृदय पाया है। प्राकृतिक सौंदर्य से उन्हें प्रेम है। फूलों को उन्होंने जेल जीवन में भी अपनाया।

जन्म और परिवार—भारत के इस लाड़ले पुत्र का जन्म प्रयाग की पुण्य भूमि में मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी संवत १६४६ (१४ नवम्बर सन् १८८६) को मरिगंज स्थित पंडित मोतीलाल नेहरू और माता स्वरूप रानी के घर में हुआ। इनके एक पूर्वज (राज कोल) प्रायः दो सौ वर्ष हुए मुगल सम्राट् फर्रुखसियर की प्रेरणा से काश्मीर की तराई की सुन्दर सुरम्य दृश्यावली को छोड़ कर रोजगार के अर्थ दिल्ली आ बसे थे। वहाँ उनको नेहर के किनारे घर और एक जागीर भी दी गई थी। नेहर के किनारे बसने के कारण उस परिवार का नाम नेहरू पड़ा। समय के हेरफेर के साथ परिवार के वैभव में भी अन्तर आया, जागीर नष्ट हो गई। किन्तु कम्पनी के अधिकार में भी परिवार की प्रतिष्ठा बनी रही। इनके परदादा पंडित लक्ष्मीनारायण नेहरू उस समय मुगल दरबार में कम्पनी के पहले वकील बने। जवाहरलाल जी के पितामह पं० गंगाधर नेहरू १८५७ से कुछ पूर्व तक दिल्ली के कोतवाल रहे। गदर की अराजकता में उनको दिल्ली छोड़नी पड़ी और वे आगरे आये। वहीं

पं० मोतीलाल नेहरू का जन्म ६ मई सन् १८६१ में हुआ। उसी दिन बङ्गाल में विश्वकवि रवीन्द्र का जन्म हुआ था। दोनों ने ही भारत की भावी राजनीति को प्रभावित किया।

आगरा में उनके एक पितृव्य वकालत करते थे। आगरा का हाईकोर्ट इलाहाबाद चले जाने पर परिवार इलाहाबाद चला गया। वहीं पंडित मोतीलाल की शिक्षा दीक्षा हुई। कुछ दिनों कानपुर की जिला अदालत में वकालत करने के पश्चात् उन्होंने हाईकोर्ट में वकालत प्रारम्भ की। वहाँ उनकी वकालत खूब चमकी उन्होंने वहाँ धन-वैभव और पर्याप्त यश भी कमाया। उसी वैभवपूर्ण वातावरण में जवाहरलाल नेहरू का जन्म हुआ था।

बाल्यकाल—ये अपने घर के लाड़ले पुत्र थे। पंचवर्षाणि लालयेत् में ही बीते किन्तु कभी-कभी पिताजी की ताड़ना का भी अनुभव हो जाता था। वे पिताजी का आदर करते थे और डरते भी थे। स्वभावतः माता की गोद में अधिक विश्रब्धता का अनुभव होता था। वहीं उनको हिन्दू पौराणिक गाथाओं से दिलचस्पी और जानकारी प्राप्त हुई। यद्यपि अपने पिता तथा घर के अन्य लोगों की भाँति धर्म से आपको उदासीनता थी तथापि त्योहारों में रुचि रही। सब उत्सवों की अपेक्षा स्वभावतः अपनी वर्षगाँठ के उत्सव में अधिक आनन्द आता था। चचेरे भाइयों से राजनैतिक चर्चा भी सुना करते थे। सार्वजनिक पार्कों और रेलों में हिन्दुस्तानियों के अपमान से उनका हृदय विचलित हो उठता था और हिन्दुस्तानियों द्वारा किये हुए प्रतिकार की बात सुन कर उनका हृदय उल्लसित हो उठता था किन्तु फिर भी उनके हृदय में अँग्रेजों के प्रति किसी स्थायी घृणा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि उनके घर में अच्छे अँग्रेजों का भी आवागमन रहता था और उनको अँग्रेज गवर्नेस भी उनके साथ प्रेम का व्यवहार करती थीं। घुड़सवारी की शिक्षा इनको ६ या ७ वर्ष की आयु से ही मिलने लगी थी। बालकपन में ही एक बार गिर कर यह सवार बने थे।

थियोसोफी का प्रभाव—प्रायः ग्यारह वर्ष की अवस्था में सुप्रसिद्ध

थियोसोफिस्ट श्री० एफ० टी० ब्रुक्स उनके ट्यूटर नियुक्त हुए। उनके गम्भीरतापूर्ण अस्तित्व से आनन्द भवन के विलासमय जीवन में एक सन्तुलन आगया था। उसी सन्तुलित वातावरण में बालक जवाहर की शिक्षा हुई। ब्रुक्स महोदय के संसर्ग से हमारे चरित्र नायक की रुचि अँग्रेजी साहित्य की ओर बढ़ी और कौतूहल ही कौतूहल में बहुत से ग्रन्थ पढ़ डाले। उन्होंने साहित्य के साथ विज्ञान के रहस्यों का भी उद्घाटन किया। बूअर युद्ध की घटनाओं को बालक रुचि के साथ पढ़ता था। बूअरों के साथ उसकी सहानुभूति थी। यहीं से उसके राजनीतिक संस्कार बने। इतना ही नहीं वरन् इनसे जीवन की गंभीर समस्याओं की ओर आकर्षण सा हुआ। हिन्दू धर्म के वाह्याडम्बर की ओर तो नहीं वरन् उसकी आत्मा की ओर उनकी रुचि बढ़ी। ब्रुक्स महोदय के प्रभाव में उन्होंने माँस खाना भी छोड़ दिया था। पिताजी से विशेष प्रोत्साहन न पाकर भी उन्होंने देवी एनी बिसेन्ट से थियोसोफी की शिक्षा प्राप्त की। उनके पिता भारतीय होते हुए भी अँग्रेजी रंग में रंगे हुए थे और उनके गुरू विदेशी (आइरिश) होते हुए भी भारतीय संस्कृति और रहन-सहन के पक्षपाती थे। ऐसे ही संस्कृतियों के संगम में बालक जवाहर की शिक्षा हुई।

हैरो और केम्ब्रिज—सन् १६४० में जवाहरलाल जी के पिता सपरिवार विदेश गये और अपने होनहार बालक को हैरो के पब्लिक स्कूल में भरती कराया और फिर योरोप का भ्रमण कर घर लौटे। ये स्कूल बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ और नेताओं का उद्गम स्थान रहा है। सामान्यज्ञान और विशेष कर राजनीति के ज्ञान में यह भारतीय बालक वहाँ के बालकों से आगे था। हैरो में अपनी योग्यता के कारण ट्रेविलियन की लिखी हुई गेरीबाल्डी की जीवनी पुरस्कार स्वरूप प्राप्त की थी। उसे १६०५ में होने वाले इंगलैंड के चुनावों में दिलचस्पी रही। वहाँ के मंत्रिमंडल की पूरी सूची उसे कंठस्थ थी। राजनीति के अतिरिक्त दूसरा विषय जिसमें उसे रुचि थी वह हवाई जहाज का था। उन दिनों हवाई जहाज अपनी शैशवावस्था ही में थे। वहाँ रहते हुए भी बालक का हृदय स्वदेश की

राजनीति से प्रतिस्पन्दित होता रहा था। तिलक और लाजपत उसको प्रभावित करते रहे।

दो वर्ष हेरो में रहने के पश्चात् केम्ब्रिज गये और वहाँ के सुप्रसिद्ध ट्रिनिटी कालेज प्रवेश में प्राप्त किया। 'जन्तु विज्ञान (ज्यूलोजी) व वनस्पतिशास्त्र (बुटेनी) और रसायन शास्त्र (केमिस्ट्री) विषय लेकर वहाँ के स्नातक बने और पीछे से उनकी विशेष योग्यता के कारण उनको एम० ए० की पदवी भी बिना परीक्षा के मिल गई।

यूनिवर्सिटी की शिक्षा के पश्चात् लन्दन जाकर इनश्टेम्पिल से १६१२ में बैरिस्ट्री की डिग्री प्राप्त की और स्वदेश लौटकर पिता के साथ १६२० तक बैरिस्ट्री करते रहे। इसी अवसर में सन् १६१६ में पंडित जवाहरलाल कौल की पुत्री कमला से दिल्ली में इनका विवाह सम्पन्न हुआ और १६१७ में इन्दिरा का जन्म हुआ।

राजनीति के क्षेत्र में—जवाहरलाल जी ने बैरिस्ट्री में सफलता पाई अवश्य किन्तु उनका मन उसमें नहीं था। वही नित्य की बातें लौट-फेर कर आती थीं उनसे उनका जी ऊब उठा था। विलायत में रहते हुए वे भारत की राजनीति में दिलचस्पी रही। बङ्ग-भङ्ग ने देश में एक नव जागरण की लहर उत्पन्न कर दी थी। होटलों और रेलों में हिन्दुस्तानियों के प्रति अंग्रेजों का व्यवहार उनके हृदय में शूल सा चुभता था। यद्यपि उनको व्यक्तिगत रूप से अँग्रेजों से सम्मान मिलता था तथापि वे उन लोगों में से न थे जो स्वयं सुखी रहते हुए दूसरों के दुख से दुखी नहीं होते थे। 'सबते अधिक जाति अपमाना' वाली गोस्वामी तुलसीदास जी की उक्ति उनके हृदय में गहरी पैठ कर गई थी। नेहरूजी देश की राजनीति में सन् १६१२ से ही भाग लेने लग गये। सन् १६१२ की पटना कांग्रेस में सम्मलित हुए थे। सन् १६१४ में नरम दल के नेता गोखले की अपील पर प्रवासी भारतवासियों के लिए पचास हजार रुपये एकत्र किये और अफ्रीका भेजे किन्तु ये सब कार्य एक विशाल ग्रन्थ की प्रस्तावना स्वरूप ही थे।

राजनीति में—१६१७ तक आते-आते भारतीय राजनीति में कुछ परिवर्तन आगया था। बङ्ग-भङ्ग रद्द कर दिया गया था। आंशिक सफलता कभी-

कभी उद्देश की पूर्ति में घातक होती है। इधर ब्रिटिश दमन-चक्र ने नरम दल के लोगों के संगठन को काफी धक्का पहुँचाया था। नरम दल के लोग अपनी नीति बदलने को तैयार न थे। वे 'भिक्षां देहि' की नीति में विश्वास करते थे और अंग्रेज लोग दुर्योधन की भाँति बिना संघर्ष सुई की नोंक पर भी अधिकार त्याग करने को तैयार न थे। एक राजनीतिक गत्यवरोध सा उत्पन्न हो गया था।

जवाहरलाल जी के पिताजी मोतीलाल नेहरू नरम दल के थे। जवाहरलाल में जवानी की गति थी। उनका हृदय उत्साह और स्फूर्ति से पूर्ण था। महात्मा गांधी भारत लौट आये थे। किन्तु वे पूरी परिस्थितियों के अध्ययन के बिना भारतीय राजनीति में भाग नहीं लेना चाहते थे। धीरे-धीरे वे चम्पारन, खेड़ा और अहमदाबाद में सत्याग्रह संग्राम का सूत्रपात कर चुके थे और उनमें विजयी भी हुए थे।

मृग-मरीचिका—इधर चार वर्ष के जन और धन संहार के पश्चात् युद्ध में मित्रराष्ट्रों की सन् १९१८ में विजय हुई। युद्ध में हिन्दुस्तानी राजभक्त राजाओं ने तो तन, मन और सैन्य बल अँग्रेज-प्रभुओं को समर्पण कर दिया था और देशभक्त लोगों ने भी कुछ सज्जनतावश कुछ सुधारों की आशा में पड़कर अंग्रेजों को सहयोग दिया। अँग्रेज लोग सब्ज-बाग दिखाने में चतुर थे। हिन्दुस्तानी उनके भुलावे में आ गये थे। लड़ाई समाप्त होने पर हिन्दुस्तानियों का स्वप्नभङ्ग हुआ। सब्जबाग इन्द्रजाल ही सिद्ध हुआ। सुधारों की आशा मृगमरीचिका सिद्ध हुई। तोते की भाँति जिस सेमर के फूल को यत्न के साथ सेया, उसमें उसने कुछ सार या तत्त्व न निकला, फूल खिला और रूई उड़ गई।

सेमर सुवना सेइया दुइ टेठी की आस।
टेठी फूट चटाक दे, सुवना चला निरास॥

दमन चक्र में गति—युद्ध में जो सुरक्षा के हेतु अधिक सतर्कता रखने के लिये फौजी कानून लागू किये गये, युद्ध के बाद वे हटा लिए जाने चाहिये थे किन्तु रौलेट एक्ट द्वारा उनको और स्थिरता एवं दृढ़ता प्रदान की गई। उसके विरोध में सत्याग्रह का संकल्प किया गया। सत्या-

अह अहिंसात्मक होता और उसमें मन की पूर्ण शुद्धि अपेक्षित रहती है। उसमें शस्त्रबल नहीं रहता। आध्यात्मिक बल रहता है। इसी आध्यात्मिक बल की प्राप्ति के अर्थ गांधी जी ने स्वयं उपवास किये और दूसरों से भी उपवास कराए किन्तु फिर भी कहीं-कहीं विशेषकर पंजाब में हिंसात्मक प्रवृत्तियों ने बल पकड़ा और दंगे हुए। दमन-चक्र को गति देने का बहाना मिला। पंजाब में फौजी कानून जोरों से जारी कर दिया गया। १३ अप्रेल सन् १६१६ का दिन भारतीय इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। उसी समय जलियानवाला बाग का रोमांचकारी गोलीकांड घटा था। लोग नव वर्ष का उत्सव मनाने एकत्र हुए। हिन्दुओं पर केवल इस अपराध पर कि मेले ने एक सभा का रूप धारण कर लिया था, गोलियों की वर्षा की गई। उनके निकल भागने का मार्ग भी अवरुद्ध कर दिया गया। रंग में भंग उपस्थित हो गया। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई। ब्रिटिश राज्य के इस कलंक के साथ जनरल डायर का नाम चिरकाल तक सम्बद्ध रहेगा। पंजाब आहत हुआ।

हत्याकाण्ड की प्रतिक्रिया—आहत पंजाब की पुकार को पंडित मोतीलाल नेहरू अनसुनी नहीं कर सकते थे। मोतीलाल नेहरू भी नरम दल की नीति का शैथिल्य त्याग इस जातीय अपमान के शोध में सक्रिय हो गये। कांग्रेस की ओर से पंजाब हत्याकाण्ड की जाँच के लिए एक कमेटी बनी। उसमें जवाहरलाल और उनके पिता दोनों ही शामिल थे। जवाहरलाल ने बड़ी तन्मयता से इस जाँच में काम किया। महात्मा गांधी ने पंजाब के हत्याकाण्ड और तुर्की की खलीफत का पक्ष लेकर पुनः सत्याग्रह और असहयोग का सूत्रपात किया। यह अनुभव किया गया कि सरकार के साथ हमारे सहयोग के ही कारण सरकार हमारे ऊपर शासन करने में समर्थ होती है। वकीलों ने वकालत छोड़ी। अदालत का बहिष्कार हुआ। राय बहादुरों तथा अफसरों ने अपनी पदवी को तिलाञ्जलि दी। विद्यार्थी स्कूल कालेज छोड़ कर राष्ट्रीय कार्यों में शामिल होने लगे। हिन्दू और मुसलमान कन्धे से कन्धा मिला कर स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े।

अँग्रेजों को आशा थी कि ब्रिटिश युवराज को आमन्त्रित कर भारत-वासियों की स्वाभाविक राजभक्ति उमड़ पड़ेगी और आन्दोलन ठंडा पड़ जाएगा। कांग्रेस के मना करने पर भी युवराज सन् १६२१ में पधारे। उनके स्वागत का बहिष्कार हुआ। अंग्रेजों को यह बात अखरी और दमन चक्र ने गति पकड़ी। उस दमन चक्र के लपेटे में मोतीलाल नेहरू तथा जवाहरलाल नेहरू दोनों ही आए। दोनों एक ही जेल में बन्द कर दिए गए। वहाँ पंडित जवाहरलाल जी को अपने पिता की सेवा का सुअवसर मिला। किन्तु इस सेवा सुश्रूषा से भी मोतीलाल जी नेहरू का स्वास्थ्य सुधर न सका।

जेल जीवन—पंडित जवाहर लाल नेहरू को देश की स्वतन्त्रता के हेतु कई बार जेल जाना पड़ा आपने लखनऊ, बरेली, अलीपुर, नैनी, देहरादून, अहमद नगर आदि अनेकानेक जेलों में निवास कर उन्हें पवित्र किया। जेल से बाहर आते ही आन्दोलनों में भाग लेते और पकड़ कर जेल भेज दिए जाते। एक बार तो बहुत दिनों पश्चात् अपने बीमार पिता से मिलने जाते हुए ही पकड़ लिए गये। कुल मिला कर आपने १३ वर्ष जेल में बिताए। ए० श्रेणी के कैदी होते हुए भी उनका जीवन सुखमय न था। पत्र और मुलाकातों में विलम्ब होता। कुटुम्ब की स्त्रियों का अपमान होने के कारण उन्होंने अपने को मुलाकातों से भी वंचित रखा। जेल में सुख सुविधा के साधन सीमित थे। किन्तु उनको कमी इतनी नहीं अखरती थी जितनी कि स्वजनों के स्नेहपूर्ण कोमल सम्पर्क की। इस सम्बन्ध में वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—

"कभी-कभी जिन्दगी की कोमल वस्तुओं के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्द-प्रद वातावरण, मित्रों के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चों के साथ खेलने की इच्छा जोर पकड़ उठती। किसी अखबार में किसी तसवीर या फोटो को देख कर पुराना जमाना सामने आ खड़ा होता—उन दिनों की बातें सामने आ जाती जब जवानी में किसी बात की फिकर न थी। ऐसे वक्त घर की याद की बीमारी पूरी

तरह जकड़ लेती और वह दिन बड़ी बेचैनी के साथ कटता"। इन वाक्यों से उनकी अन्तर्वेदना का पता लगाया जा सकता है।

जेल के निवास स्थान भी बहुत अच्छे न थे। पुरानी दीवारें, टूटी छतें और तंग कोठरियाँ। आनन्द भवन के नन्दन-वन विहारी को कंटकित-करीलवन का वास, किन्तु वहाँ भी उनका सहज दार्शनिक मैत्री भाव आड़े आया। छिपकली और मकड़ी में वे रुचि लेने लगे। चिमगादड़ों के प्रति उनको नैसर्गिक घृणा थी किन्तु यहाँ वह भी दब कर विलीन होगई। वे लिखते हैं 'अकसर ऐसे जीव जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसी ने भी नहीं काटा चार पाँच साँप भी मेरी कोठरी में या उसके आस-पास निकले थे।'

वे अपना समय पुस्तकें पढ़ने, बादलों की रंग-बिरंगी छटा देखने और रात्रि में तारों से जान-पहचान करने में बिताते। सूत कातने से उनको मानसिक विश्राम मिलता था।

लाठियों की मार—नेहरूजी ने जेल जीवन की ही यातनाएँ नहीं सहीं वरन् लाठियों की बौछार में आगे रहे। जिन दिनों साइमन कमीशन भारतवासियों की स्वराज्य के लिए योग्यता जाँचने लखनऊ आया था उन दिनों वे उसके विरोध में सोलह आदमियों की एक टोली के साथ झंडा हाथ में लेकर निकले थे। दूसरी टोली के नेता हमारे देश के गृह मन्त्री पं० गोविन्द वल्लभ पंत थे। ये दोनों वीर लाठी चार्ज में आगे रहे, पीठ नहीं दिखाई, और न झंडा हाथ से छोड़ा। बेहोश हो गए, तब घर पहुँचाए गए।

राष्ट्रपति (कांग्रेस के सभापति)—चालीस वर्ष की अल्पावस्था में महात्मा गांधी के प्रस्ताव पर नेहरू जी लाहौर कांग्रेस के लिए राष्ट्रपति बना दिए गए। जवाहरलालजी के ही सभापातित्व में पूर्ण स्वतन्त्रता का महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था। २६ जनवरी १६३० में गांधी जी के आदेश से देश भर में स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाने का आयोजन हुआ। सरकार ने फिर दमन चक्र चलाया। जवाहरलाल फिर पकड़े गए।

उन्होंने अपने पिता से कांग्रेस की बागडोर हाथ में ले ली थी। जेल जाते समय फिर उन्हीं को सौंपनी पड़ी। एक बार सन् १६३६ में लखनऊ-काँग्रेस के सभापति चुने गये। इसी अवसर पर उन्हे बड़े दुरूह पारिवारिक वियोग का सामना करना पड़ा। पहले पिताजी परलोक सिधारे, फिर १६३६ में प्रिय पत्नी कमला का स्विटज़रलेंड में स्वर्गवास हुआ और अन्त में सन् १६३८ में माता स्वरूप रानी भी परलोकवासिनी बनीं। देश सेवा के फलस्वरूप कारावास ने हमारे चरित्र-नायक को प्रियजनों की रोग परिचर्या से भी वंचित रखा।

अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य—देश में अशान्ति थी तो विदेश में भी शान्ति नहीं थी। स्पेन में गृह-युद्ध चल रहा था। फ्रेन्को ने वहाँ के जन-शासन को उलटने का प्रयत्न किया था। स्वतन्त्रता के पुजारी जवाहरलालजी वहाँ के जन नेताओं के साथ सहानुभूति प्रगट करने गये और वहाँ की जनता के लिए कपड़ों और खाद्य-पदार्थों की सहायता भेजी। चीन-जापान में युद्ध छिड़ा हुआ था। वे चीन को भी सहानुभूति प्रकट करने पहुँचे। १६२७ में वे कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से साम्राज्य विरोधी संघ के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए जनेवा गए थे। इसी वर्ष वे रूस के प्रजातन्त्र के दशम वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने गए। वहाँ से वे साम्यवादी झुकाव लेकर आये। प्रत्येक समझौते की बात-चीत में वे गांधीजी के सहयोगी सलाहकार रहे। लन्दन जाकर प्रतिष्ठित लोगों में मिलकर भारत के पक्ष में जनमत को फेरने का प्रयत्न किया। गांधीजी तो देशी राज्यों की समस्या में कुछ उदासीन रहना चाहते थे किन्तु वे नाभा गए वहाँ उन पर मुकद्दमा चलाया गया। नेहरूजी शेख अब्दुल्ला की सहायता के लिए काश्मीर भी गए। वहाँ भी गिरफ्तार हुए।

देश की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए नेशनल प्लानिंग कमेटी का निर्माण किया। वर्तमान पंचवर्षीय योजना उसका ही विकसित रूप है। कांग्रेस की फूट मिटाने और काउन्सिलों में उसको विजय के लिए वे तूफानी दौरा करते रहे हैं। एक-एक दिन में आठ-आठ जगह व्याख्यान

दिए। प्रान्तों और केन्द्रों में कांग्रेस सरकार बनाने में उनका बहुत बड़ा हाथ है।

राजनीति की ऊबड़-खाबड़ दुर्गम घाटियों में जीवन व्यतीत करते हमारे चरित्र नायक ने साहित्य के क्षेत्र में भी अपूर्व ख्याति पाई है। उनकी तीन पुस्तकें 'विश्व इतिहास की झलक', 'मेरी कहानी', और 'भारत की खोज' अंग्रेजी गद्य का उत्कृष्ट नमूना उपस्थित करती हैं। अंग्रेजी गद्य लेखकों में उनका स्थान प्रथम आठ या दस लेखकों में आता है।

प्रधान मन्त्री—संघर्ष और समझौतों से जब काम चलते न दिखाई दिया और भारत की इच्छा के विरुद्ध भी भारत को युद्ध की ज्वाला में घसीटा गया तब १९४२ में गांधीजी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाया। उससे गांधी, जवाहरलाल तथा अन्य नेता तो जेल में बन्द कर दिए गए किन्तु उन्होंने जो स्वतंत्रता की लहर उठा दी थी वह आगे बढ़ती गई। उधर नेताजी सुभाष बोस ने भारत की स्वतंत्रता के लिए आइ० एन० ए० की सेना खड़ी की। सैनिकों में भी विद्रोह के अंकुर फूट निकले। १९४५ में नेता लोग छोड़ दिए गए; फिर समझौते की बातचीत चली। उधर आइ० एन० ए० के अफसरों पर मुकद्दमा चला। यद्यपि पंडित जी हिंसात्मक विद्रोह के पक्ष में न थे तथापि इस विचार से कि आइ० एन० ए० के लोग ब्रिटिश राज्य के प्रति विद्रोह के प्रतीक थे उनके पक्ष में पुनः वकालत की गाउन पहनी।

१९४७ में जब ब्रिटिश सरकार ने सत्ता हस्तान्तरित करने का निश्चय कर लिया तब लार्ड माउन्टबेटेन को प्रथम गवर्नर जनरल बना कर पंडित नेहरू ने भारतीय उदारता का परिचय दिया। सर्वसम्मति से वे प्रधान मन्त्री चुने गए। चुने जाते ही बहुत सी विषम समस्याओं का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी समस्या विस्थापितों और साम्प्रदायिकता की थी। इन समस्याओं का उन्होंने सफलतापूर्वक हल किया। काश्मीर का भारत-संघ में शामिल होने की स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर भी उन्होंने उदारतापूर्वक जनमत का वचन दिया। संविधान बनवाया। गण राज्य

को पूर्ण प्रभुत्व और स्वामित्व सम्पन्न बना कर भी ब्रिटिश कामनवेल्थ से सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया। पाकिस्तान के प्रति उनकी नीति उदार और शायद जरूरत से ज्यादा उदार है किन्तु भावी खतरे के सम्बन्ध में वे सतर्क रहते हैं। अन्तराष्ट्रीय मामलों में निष्पक्षता की नीति का अनुसरण कर रहे हैं और विश्व शान्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। नेहरूजी ने विश्वशान्ति के लिए ही सहअस्तित्व आदि पंचशील के सिद्धान्तों का प्रचार किया। एशिया से उपनिवेशवाद के भूत को भगाने के लिए वे प्रयत्न करते रहे हैं। शान्ति के अग्रदूत के रूप में ही नेहरूजी का रूस तथा जेकोस्लाविया आदि देशों में अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उनके मान से भारत गौरवान्वित हुआ।

परिशिष्ट

श्री श्रीप्रकाशजी राज्यपाल मद्रास द्वारा किया हुआ पं० जवाहरलाल का चरित्र-चित्रण

(२० मार्च १९५५ के साप्ताहिक हिन्दुस्तान से)

पंडित जवाहरलाल का मानसिक साहस प्रशंसनीय है। वह अपने नजदीक से नजदीक के मित्रों और सहयोगियों के विरुद्ध भी अपनी निजी वास्तविक राय देते रहते हैं। जिन लोगों ने कांग्रेस की कार्य-समिति के भीतर की घटनाएँ देखी हैं वे जानते हैं कि इसके कारण उनको कितना दुख सहना पड़ा है, पर वह कदापि विचलित नहीं हुए। १९२८ की कलकत्ते की कांग्रेस में तो वह अपने पिता के ही विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। उनका शारीरिक साहस भी कम प्रशंसनीय नहीं है। बड़ी से बड़ी और विरोधी भीड़ में भी वह झट घुस पड़ते हैं, कुछ परवाह नही करते हैं। रायबरेली में जब गोली चल रही थी, तब वह उसका प्रहार सहने को आगे बढ़ गए। इलाहाबाद में पुलिस के रोक-टोक करने पर भी वह संगम में कूद पड़े। स्पेन और चुङ्किग में हवाई हमले के समय वह मौजूद थे। मुझे तो अक्सर ऐसा मालूम पड़ा है कि उन्हें डर लगता ही नहीं। उनका यह गुण मुझे बड़ा प्रिय है। मुझमें यह गुण नहीं है। हमारे देशवासियों में इसकी बहुत कमी है। यदि हम सब में यह गुण आ जाए

तो हम क्या नहीं कर डालें। मजा तो यह है वह कभी यह अनुभव नहीं करते कि उन्होंने कोई विशेष काम कर डाला है। जब कोई प्रशंसा करता है तब उन्हें आश्चर्य होता है।.................उनकी बालकों ऐसी प्रकृति है। वह बहुत देर तक नाराज नहीं रह सकते। वह एकाएक उबल पड़ते हैं, फिर शान्त हो जाते हैं। अफसोस करने लगते हैं, क्षमा माँगने लगते हैं फिर लड़ बैठते हैं। उनमें कटुता का लेश भी नहीं है। उनकी करीब ६५ वर्ष की उम्र हुई, पर आज भी वह बालक ही बने हुए हैं। शरीर से वे पुष्ट हैं। मन और हृदय सब चंगा है। उनकी प्रकृति बालक की-सी है। उनसे बात कीजिये तो ऐसा नहीं जान पड़ता कि वह संसार के प्रमुखतम व्यक्तियों में हैं। वह सब के सामने कलैया मारने लगते हैं। बच्चों से धौल-धप्पड़ करते हैं। स्त्रियों के साथ मजाक भी खूब करते हैं। उनमें बहुत भक्ति का भाव नहीं है। वह सब के साथ बराबरी से ही मिलते हैं। समारोहों में वह खामख्वाह आगे बढ़ने का शौक भी नहीं रखते। कहीं भी बैठ जाते हैं। वह मित्रता निबाहते हैं और आदमी को पहचानते हैं। भीड़ में अपना जीवन व्यतीत करते हुए भी वास्तव में वह एकाकी हैं। न वह किसी के भक्त हैं न उनका कोई भक्त है। नेता के बहुत से गुण होते हुए भो दूसरों से काम ले सकने का गुण उनमें नहीं है। वह स्वयं ही अपना सब काम करते हैं। महात्मा गांधी ही नहीं, सरदार वल्लभभाई पटेल या श्री राजेन्द्र प्रसाद की तरह भी वह दूसरों को अपने से बाँधे नही रख सकते। बिना सोचे वह कुछ ऐसा कह या कर देते हैं, जिससे दूसरे अप्रसन्न हो जाते हैं। जो उनकी प्रकृति जानता है वह उन्हें समझता है और बुरा नहीं मानता। पर सब लोग ऐसा नहीं कर सकते। वह अपना यह दोष जानते हैं, पर अपनी प्रकृवि से लाचार हैं। वह अपने को सम्हालना चाहते हैं पर सम्हाल नहीं पाते। ऐसे ही प्रसंग में एक बार जब मैं उनसे झगड़ पड़ा तब उन्होंने मुझसे कहा—"तुम तो मुझे जानते हो। क्यों नाराज होते हो ! मुझ ऐसे अभागे पर दया करो।" तब से मैंने फिर न कभी शिकायत की, न अप्रसन्न ही हुआ। वह भी अपने को मेरे सामने तो सम्हाले ही रहे।

उपसंहार—जवाहरलाल जी बड़े सच्चे आदमी हैं। उनसे किसी को कभी किसी बात में, छोटी हो या बड़ी धोखा नहीं हो सकता। मामूली चालाकियों और चालबाजियों से वह बड़ी दूर रहते हैं। उनका सब काम बड़ी सफाई का होता है। छोटी छोटी बातों में भी, जिनमें मामूली तरह से संसार के अच्छे लोग भी झूठ को झूठ नहीं मानते, उनका व्यवहार सदा शुद्ध और स्वच्छ रहा है। गन्दगी उनके पास नहीं आ सकती। जल्दबाजी के साथ उनमें धैर्य है, गुस्से के साथ उनमें क्षमा है, विद्या के साथ में उनमें सहिष्णुता है। नेता न हों, पर वह बड़े कर्मठ कार्यकर्ता हैं; धार्मिक न हों पर वह बड़े सच्चे कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति हैं; महात्मा न हों, पर वह बड़े 'आदमी' हैं। जो उन्हें अच्छी तरह जानते हैं, जिन्हें उनकी मैत्री प्राप्त हुई है, जो उनके विश्वासपात्र रहे हैं, उनके हृदय में उनके लिए सदा स्नेह और ममता बनी रहेगी। वे अपने को धन्य मानेंगे कि हमने जवाहरलाल को इतने निकट से जाना।

१५ : अदम्य उत्साही शेरपा तेनसिंग

करना ऐसे काम मनोहर
गर्व करें भारतवासी वर,
जन्म भूमि फूली न समावे
नई नई सुख सम्पति पावे।

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य, गौरव विराट !
पौरुष के पुन्जीभूति ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिक भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल ! —दिनकर

नगाधिराज की इस उच्चतम चोटी की ओर सबसे पहले ध्यान आकर्षित करने वाले एक बंगाली महाशय सिकदार थे। सिकदार सर्वे आफिस में एक क्लर्क थे और जॉर्ज एवरेस्ट के नीचे काम करते थे। आर्कमेडीज की भाँति प्रसन्न हो कर उन्होंने साहब से कहा था "हुजूर मैंने दुनियाँ के सबसे ऊँचे पहाड़ का पता लगा लिया है।" श्रेय सरदार को ही मिला करता है। इस भाँति इस चोटी का नाम 'माउन्ट एवरेस्ट' पड़ा।

पर्वत का महत्त्व—एवरेस्ट नाम के शैलशृङ्ग की ऊँचाई २६,१४१ फीट आँकी गई है। इसके कारण हिमालय को 'भारत-भाल विशाल' कहा गया है। 'वन्दे भारत देश मुदारम्, भाल विशाल हिमाचल भ्राजम्'। भारत की बन्दना के साथ उसके तुषार किरीट का भी स्तवन हुआ है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है :—

अनिल विकम्पित श्यामल अञ्चल,
अम्बर चुम्बित भाल हिमाचल शुभ्र तुषार किरीटिनी।

कठिनाइयाँ—एवरेस्ट विजय का इतिहास बड़ा रोमांचकारी है। पर्वतारोहियों का अदम्य उत्साह और विजय लालसा ही उनको हथेली पर जान रख कर दुर्गम पथ को भी सुगम बनाने में सहायक होती है। रुधिर को भी जमा देने वाला शीत और तीरों की भाँति छेदने वाला प्रभञ्जन वेग का सामना करना, पहाड़ की फिसलाने वाली सीधी बर्फीली चट्टानों को काट कर मार्ग बनाना तथा ऊपर से सरकने वाली ग्लेशियरों की हिमशिलाओं से टकराहट का भय और सब से बढ़ कर ऑक्सीजन शून्य पतली हवा में साँस लेने की दिक्कत से बचने के लिए ऑक्सीजन का भार सम्हालते हुए अन्य आवश्यक वस्तुओं को ऊपर ले जाना मानव साहस की सीमा को पार करना है। इन मानवोत्तर साहस के कार्यों में नेपाल निवासी वीर शेरपा लोगों ने पर्वतारोहियों के खेमे आदि का भार वहन ही नहीं किया वरन् पथ प्रदर्शन भी किया और कन्धे से कन्धा भिड़ा कर आगे बढ़े एवं जान की बाजी लगाई। जहाँ चौपायों की गति नहीं, जहाँ मशीन की पहुँच नहीं, वहाँ दुपाये शेरपा वीर दुर्वह भार का वहन करते हैं।

पूर्व-प्रयास—एवरेस्ट शिखर पर आरोहण के प्रयत्न मई सन् १६२१ से हो रहे हैं। सर्वप्रथम अभियान के अधिनायक थे जार्ज ले मैलोरी। यह दल एवरेस्ट शिखर से बीस मील दूर रह गया था। किन्तु उन्हें पर्वतराज की जो झाँकी मिली थी वह वर्णनातीत थी। इसके बाद वह १६३४ का एवरेस्ट अभियान विशेषकर रोमांचकारी रहा है। इसके अधिनायक विल्सन महाशय थे। उनके साथी पोर्टरों ने जब आगे बढ़ने

में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी तो वे अकेले ही अपने लक्ष्य की ओर चल दिये। अपने पोर्टरों को यह आज्ञा दी कि दो सप्ताह तक वे लोग उनकी प्रतीक्षा करें और यदि वे न वापिस आवें तो वे लोग लौट जाँय। अपने साथ यात्रा की साधारण सी सामग्री लेकर विल्सन महोदय पर्वत-शिखर पर चढ़ने लगे। उस समय तापक्रम शून्य से ५०° अंश नीचे था। साथियों ने आँखें फाड़-फाड़ कर पूरे एक महीने बिल्सन साहब की बाट जोही। लेकिन बेचारों को निराश होकर लौटना पड़ा। एवरेस्ट के अगले अभियान में विल्सन का शरीर अरक्षित रूप से बर्फ में सुरक्षित पड़ा हुआ मिला था, जिससे अनुमान किया गया कि वह घोर शीत में ठिठुर कर एवरेस्ट-आरोहण के स्थान पर स्वर्गारोहण कर गये। तदनन्तर कई और अभियान हुए, किन्तु विशेष सफलता न मिल सकी। फिर भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि उन सब अभियानों की असफलताएँ ही इस अन्तिम अभियान की सफलता का सोपान बनी हैं।

तेनसिंग—एवरेस्ट विजय के लिए कुल मिला कर ग्यारह अभियान हुये। १९५२ में दो प्रयत्नों में स्विस दल ने भाग लिया। इन दोनों दलों के साथ भविष्य में एवरेस्ट पर विजय पाने वाले शेरपा तेनसिंग भी थे। जिस एवरेस्ट की चोटी का प्रथम संकेत एक भारतीय ने किया, उसी दुर्जेय एवरेस्ट पर प्रथम बार ध्वजारोपण का श्रेय भी एक भारतीय को मिला।

नाम—शेरपा तेनसिंग का नाम 'दानजिन नोरगाई' है। शेरपा का अर्थ है 'पूर्व के निवासी'। दानजिन का अर्थ 'सिद्धान्त का समर्थक' और 'नोरगाई' का अर्थ 'अपरिमित लक्ष्मी' होता है। इन दानजिन नोरगाई को यूरोपियनों ने 'तेनजिंग नोरके' तथा भारतियों ने 'तेनसिंग नोरके' नाम से जाना है।

जन्म—तेनसिंग का जन्म जून सन् १९१४ में पूर्वी नैपाल में तिब्बती सीमा के समीप स्थित 'सोला खुम्बू' घाटी के एक छोटे से गाँव में हुआ था। गाँव का नाम 'थामे' है और यह केवल १०-१२ झोंपड़ियों का समूह है।

दार्जिलिंग से—शेरपा लोग अत्यन्त निर्धन होते हैं और इनकी मुख्य जीविका दुर्गम रास्तों में बोझा ढोना है। शेरपा लोग अधिकांश में दार्जिलिंग चले जाते हैं। यहाँ इनको इस प्रकार का काम पेट पालने के लिए अच्छा मिल जाता है। तेनसिंग के साथ भी ऐसा ही हुआ किन्तु यह युवक अपनी जाति के युवकों से कुछ भिन्न था। इसमें आजीविका की चाह तो थी ही किन्तु इसने अपने बाल्य काल में पर्वतारोही साहबों की साहसपूर्ण कहानियाँ सुन रखी थीं; इसके मन में पर्वतारोहण की उमंग और यश प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा थी। वह भी दार्जिलिंग गया। वहाँ जाकर वह बोझा ढोने के काम को तो न छोड़ सका, क्योंकि जीवन यापन का और कोई साधन न था किन्तु फिर भी उन्होंने यह काम भी उच्च-स्तर का बनाना चाहा और पर्वतारोहण की कला में दक्षता प्राप्त करने का संकल्प किया। अतएव उन्होंने बाजारू बोझा ढोने की अपेक्षा विदेशी पर्वत आरोहियों के दल के साथ यह काम करना अधिक सम्मानित समझा।

पर्वतारोहण कार्य—इसने एवरेस्ट के ग्यारह अभियानों में से नौ अभियानों में भाग लिया। तेनसिंग का व्यक्तित्व भी विशेष आकर्षक है। वह अपने शेरपा भाइयों से कुछ अधिक ऊँचा है (पाँच फुट आठ इंच) और बड़ा हँसमुख है। उसका उत्साह और उसकी जानकारी सहज में ही विश्वास उत्पन्न कर देती है। पहली बार वह एक दल के साथ २०,००० फुट की ऊँचाई तक गया। फिर शिपटन के आरोही दल के साथ उन्होंने एवरेस्ट आरोहण में भाग लिया। वैसे तो तेनसिंग ने कभी किसी स्कूल की शिक्षा का लाभ नहीं उठाया। इसलिए उन्हें निरक्षर कहना भी अनुचित न होगा, किन्तु अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण तथा देश-देश के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण वह अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी, घोल्मो, नैपाली, तिब्बती तथा अंग्रेजी भी बोल और समझ सकते हैं। फ्रेंच भी थोड़ी बहुत आती है।

ख्याति का प्रारम्भ—शिपटन के साथ काम करने से तेनसिंह को अच्छा अनुभव हो गया, अतएव १६३६ के एवरेस्ट अभियान में जिसके अधिनायक रटलेज थे, तेनसिंग को विशेषकर साथ लिया गया। यह

आरोहण दुर्भाग्यपूर्ण हो रहा और विशेष सफलता न मिल सकी। १९३८ में वह फिर टिलमैन के साथ एवरेस्ट आरोहण को गये। इस बार तेनसिंग ने अपनी कार्यकुशलता तथा कर्त्तव्यपरायणता से अधिनायक को विशेष प्रभावित किया। जिसके फलस्वरूप लन्दन के हिमालय क्लब की ओर से उन्हें 'बाघ पदक' (टाइगर-मैडल) प्रदान किया गया। इस प्रकार धीरे-धीरे अपनी शक्ति और पराक्रम से तेनसिंग ने पर्वत आरोहियों में अपने लिए एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया।

विवाह और परिवार—इसी बीच तेनसिंग ने दार्जिलिंग की एक युवती से विवाह कर लिया। उनकी पत्नी का नाम अंगलाइम् है। वह वहीं एक छोटे से मकान या कहिए खोली में रहने लगे। उनके दो लड़कियाँ भी हैं जो नैपाली-गर्ल्स स्कूल में पढ़ती हैं। तेनसिंग को दार्जिलिंग के नागरिक अधिकार प्राप्त हैं।

सेना में—१९३९ में तेनसिंग हिन्दूकुश-पर्वत-शृंखलाओं में एक शिखर तिरिच्चमीर के आरोहण के लिए दल में सम्मिलित हुए। दुर्भाग्यवश इस अभियान में उल्लेखनीय सफलता न मिल सकी; फिर भी तेनसिंग का पुरुषार्थ सराहनीय कहा गया था। उसी वर्ष द्वितीय युद्ध आरम्भ होने पर तेनसिंग सेना में भर्ती हो गये। युद्ध की समाप्ति के लगभग छः वर्ष तक सेना में ही रहे।

पुनः पर्वतारोहण—सेना से अलग होकर दार्जिलिंग लौट आये। अपना पहला जीविका साधन फिर आरम्भ किया। १९४६ में अफ्रीकी आरोहियों के साथ एवरेस्ट पर २४ हज़ार फ़ीट तक चढ़े। १९४७ में डैनमैन के साथ इसी शिखर पर फिर आरोहण किया और गंगोत्री तक गये। फिर अगले वर्ष स्विस आरोहियों के साथ २३ हजार फुट तक चढ़ाई की। १९४९ में फिर टिलमैन के साथ एवरेस्ट के नये मार्ग की खोज की। १९५० में 'गॉडविन ऑस्टिन' शिखर के आरोहण में भाग लिया। यह शिखर कराकोरम पर्वत शृंखलाओं में स्थित है और संसार का द्वितीय सर्वोच्च शिखर कहा जाता है। अगले वर्ष तेनसिंग नंदादेवी शिखर पर २५,००० फीट की ऊँचाई तक पहुँचे।

स्विस दल में—अब तक तेनसिंग की ख्याति विदेशों में अधिक फैल गई थी। यह मान लिया गया था कि यदि कोई एक आदमी है जो इस हिमालय पर्वत के प्रदेश के चप्पे-चप्पे से परिचित है, जिसे अब तक के आरोहण-प्रयासों का अनुभव प्राप्त है तो वह शेरपा तेनसिंग ही है। इसीलिए जब १९५२ में डाक्टर एडवर्ड डुनएट के नेतृत्व में स्विस पर्वतारोही दल भारत में आया तो उन्होंने सबसे पहले तेनसिंग को याद किया। डा० डुनएट ने तो इतना तक कहा कि तेनसिंग केवल कुलियों के सरदार के रूप में नहीं वरन् दल के एक सदस्य की हैसियत से उनके साथ चलेंगे। इससे तेनसिंग को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। अब तक ब्रिटिश आरोही दलों ने तेनसिंग की उनके साहस और जीवट के कामों के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा अवश्य की थी, किन्तु गोरे और काले का भेदभाव रखा गया था। वे उनको कुलियों के सरदार के रूप में ही मानते थे। उनको बराबरी का स्थान नहीं मिलता जो उन्हें बहुत खलता था। तेनसिंग में स्वाभिमान और जात्यभिमान भरपूर मात्रा में थे। वे नौकर नहीं दल में बराबर के सदस्य बनकर यात्रा करना चाहते थे। स्विस-अभियान-दल ने नौकर और दल के सदस्य के भेदभाव को एकदम निकाल दिया। उसके लिये स्वतन्त्र डेरे का प्रबन्ध हुआ। इससे तेनसिंग के हृदय में एक अपूर्व साहस और स्फूर्ति उत्पन्न हुई और वे इस दल के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने को कटिवद्ध हो गये।

इस अभियान में तेनसिंग ने स्विस आरोही लेम्बर्ट के साथ २८२१५ फुट की ऊँचाई तक पहुँचने की सफलता प्राप्त की। इसने अब तक का रेकार्ड तोड़ दिया।

अपूर्व कठिनाइयों का सामना—इस अभिमान में तेनसिंग को घोर कष्ट सहने पड़े। २५,५०० फीट की ऊँचाई पर शीत के मारे पाँव फटने लगे और पैर की अँगुलियाँ कट कर गिरने लगीं। लेकिन तेनसिंग और लेम्बर्ट ने अपनी हिम्मत न छोड़ी। रात का शीत तो और भी भयावह था। उन लोगों ने बर्फ तोड़ कर थोड़ी सी चौकोर जगह की

और तम्बू लगा कर एक दूसरे की कमर में रस्सा बाँध कर लेट गये जिससे एक दूसरे को सहारा मिले। उस संकट की रात्रि का वर्णन करते हुये लेम्बर्ट ने लिखा है "तेनसिंग महान् हैं। नैतिक और भौतिक दोनों ही दृष्टियों से मुझे उन जैसा साथी कभी नहीं मिला। २७,५८० फीट की ऊँचाई पर रुक कर मैंने एवरेस्ट की ओर निराशा भरी निगाह से देखा कि चढ़ाई एकदम ६०° अंश की सीधी चढ़ाई है, अब कुछ नहीं हो सकता। झंझा के झकोरे इतने प्रचण्ड थे कि आवाज १० गज पर नहीं सुनी जा सकती थी! किन्तु तेनसिंग ने मेरे शब्दों के बजाय मेरी चेष्टा से मेरे मन का भाव समझ लिया। उन्होंने मेरी अपनी और शिखर की ओर इशारा करके कहा 'आप और मैं, कल उस चोटी पर होंगे'। उस समय मुझे प्रतीत हुआ कि तेनसिंग में एक दैवी शक्ति है जो अपने साथ मुझे भी उठाये लिये जाती है। हमारे पास न ऑक्सीजन थी, न खाने की पर्याप्त सामग्री। एक विस्तर पहले ही गिर चुका था। हम रात भर एक दूसरे के थप्पड़ लगाते रहे, ताकि रक्त का बहना न रुक जाय।"

अगले दिन फिर चढ़ाई आरम्भ की लेकिन यह निश्चय हो गया कि बिना ऑक्सीजन के आगे चलना असम्भव है। वे लोग लौट पड़े, चोटी केवल ८०० फीट और ऊपर रह गई थी। लेम्बर्ट के भाग्य ने साथ न दिया।

योरोप यात्रा—इस अभियान में तेनसिंग की ख्याति और भी बढ़ गई एवरेस्ट शिखर के निकट तक पहुँचने के उपलक्ष्य में लन्दन के हिमालय क्लब तथा स्वीटज़रलैंड के अल्पाइन-क्लब ने तेनसिंग को अपना सदस्य बनाया। नैपाल सरकार ने 'प्रताप-वर्द्धक' चक्र प्रदान किया। फिर लेम्बर्ट के निमंत्रण पर तेनसिंग योरोप गये। वहाँ स्वीटजर लैंड में उनका शानदार सत्कार हुआ।

एवरेस्ट का अन्तिम अभियान—सन् १९५३ के आरम्भ में ही कर्नल हंट की अध्यक्षता में एक ब्रिटिश आरोही-दल संगठित हुआ। तेनसिंग को विशेष कर उन्होंने अपने दल में एक सदस्य की हैसियत से भाग लेने के लिए आमंत्रित किया। तेनसिंग ने यह निमंत्रण स्वीकार

कर लिया और यह शर्त ठहराई की यदि वे अकेले ही एवरेस्ट चोटी तक जाने में समर्थ हुए, जब अन्य आरोही हतोत्साह हो चुकें, तो उनको किसी कारण रोका न जाय। हंट को तेनसिंग के अद्वितीय साहस, शक्ति तथा जीवट पर विश्वास था और उन्होंने यह शर्त मान ली।

यह आरोही दल मार्च के आरम्भ में ही काठमाण्डू पहुँच गया। और उन्होंने १० मार्च को काठमाण्डू से ऐवरेस्ट को ओर यात्रा शुरू की। एवरेस्ट काठमण्डू से लगभग १७० मील है। कर्नल हंट की अध्यक्षता में इस दल के साथ १६२ मजदूर तथा १७ शेरपा थे। बिस्तर, तम्बू, खाने का पूरा सामान, आक्सीजन तथा चढ़ाई के अनेक यन्त्रों के साथ यह दल चल दिया।

प्रबन्ध—पूर्व-प्रयास के अनुभवों के आधार पर यह निश्चित किया गया था कि २३,००० फीट की ऊँचाई पर आखिरी कैम्प बनाया जाय। लोग वहाँ रहने के अभ्यस्त हो जाँय और जैसे ही मौसम अनुकूल मिले एकदम आखिरी ६००० फीट की चढ़ाई आरम्भ कर दी जाय। आखिरी चढ़ाई के लिये कर्नल हंट ने दो टुकड़ियाँ बनाई। एक टुकड़ी में थे चार्ल्स इवान्स तथा टौम बौर्डिलिन और दूसरी में हिलेरी तथा तेनसिंग। पहिली टुकड़ी एवरेस्ट शिखिर पर २८,२७० फीट पहुँच कर आगे चढ़ने में असमर्थ रही, और उसे लौट आना पड़ा। विजय-लक्ष्मी तो तेंनसिंग के भाग्य में ही लिखी थी।

२६ मई १९५३ को तेनसिंग और हिलेरी ने २७,३५० फीट की ऊँचाई कर पड़ाव डाला। उस रात शीत बहुत ही भीषण था और वायु का वेग अत्यन्त प्रबल। छोटे से टैन्ट को जो किसी प्रकार बर्फ में खोद कर लगा लिया था प्रचण्ड झंझा के झकोरे उखाड़े देते थे। किसी तरह एक एक क्षण गिनकर इन साहसियों ने रात बिताई। दूसरे दिन को भी वेग कम न हुआ। एक नई विपत्ति और आ गई। तीन भार वाहकों में से दो अकस्मात् अधिक बीमार पड़ गये। उनको आगे ले जाना या उनके स्वस्थ होने की प्रतीक्षा करना दोनों ही बातें असम्भव थीं। इसलिए सामान एक दम कम करना पड़ा। यहाँ तक कि ऑक्सीजन की मात्रा भी

कम करनी पड़ी। इतना होने पर हिलेरी और तेंनसिंग को इतनी भीषण चढ़ाई पर ५०-५० पौंड बज़न लेकर चढ़ना पड़ा।

२७ मई को २७,३५० फीट की चढ़ाई के आगे बढ़ना शुरू किया और तीसरे पहर तक २७,६०० फीट पहुँच गये। यह चढ़ाई एकदम सीधी चढ़ाई थी। ये लोग इतने थक गये थे कि एक क़दम आगे रखना दूभर था और फिर इतनी चढ़ाई पर पहुँचने के बाद साहस छोड़ना भी अच्छा न लगता था। पड़ाव के लिये घंटों चक्कर काटने पर तनिक सी चौसर जगह मिली। तब तक अंधेरा हो गया था। किसी प्रकार चाय बनाई, और रात काटने का निश्चय किया। इतनी ऊँचाई पर खुश्की इतनी अधिक हो जाती है कि थोड़ी थोड़ी देर पर चाय या शरबत पीने की आवश्यकता होती है। नहीं तो शरीर सूख कर हृदय-गति रुकने का भय रहता है। हवा के घनत्व की इतनी कमी थी कि बिना ऑक्सीजन के जिन्दा रहना मुश्किल था। जितनी देर ऑक्सीजन का प्रयोग करते थे, ठीक मालूम होते थे, आक्सीजन बन्द कर देने पर दम घुटने लगता था। किन्तु ऑक्सीजन की मात्रा अधिक नहीं थी, इसलिए इसे लगातार खर्च नहीं कर सकते थे। शीत इतना भयानक था कि थूक भी बर्फ का डेला बन कर गिरता था। उस रात को नींद भला कहाँ आती।

विजय—अगले दिन ४ वजे ब्राह्म-मुहूर्त्त में ही दोनों ने प्रस्थान करना निश्चित किया। उस समय आसमान साफ़ था और वायु का प्रकोप भी कुछ शान्त प्रतीत होता था। आगे की चढ़ाई के लिए अपने को भली-भाँति सुसज्जित कर, दोनों वीरों ने विजय यात्रा आरम्भ की। चढ़ाई इतनी एक दम सीधी और सकरी थी कि कहीं-कहीं तो बिलकुल तलवार की धार पर ही चलना था। उस पर पेट की बल कछुये की तरह रेंग कर ही आगे बढ़ सकते थे। कहीं-कहीं बर्फ ऊपर से ठोस दीखती थी, लेकिन उसकी मोटाई कम होती थी अन्दर द्रव पदार्थ होता था जिसमें पैर धँस जाते थे। आगे-पीछे चलना या रेंगना ही पड़ता था। कभी हिलेरी आगे तो कभी तेनसिंग। आगे वाले को बर्फ काटना पड़ता था। रास्ता बनाने के लिए आगे वाले को पीछे वाला साधता रहता था। तनिक सी

असावधानी और मृत्यु के मुख के ग्रास बने। वे दोनों वीर प्राणों की बाजी लगा रहे थे, धन्य वे और उनकी जननी! अन्तिम ४० फुट तो अत्यधिक विकट थे। साँस फूल जाती थी और पाँच-पाँच मिनट पर सुस्ताना पड़ता था। किन्तु विजय के इतने समीप आकर साहस छोड़ना भी तो मूर्खता थी। सारी गंगा तैर कर किनारे पर हिम्मत हारना लोकलज्जा का कारण बनता। संकल्प कर चुके थे ये वीर यह कि प्राण छूट जायँ किन्तु साहस न छोड़ेंगे। साहसी वीर ही विघ्नों से भतभीत नहीं होते। अन्त में अनादि काल से अविजित इस सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने में ये वीर सफल ही हुये। आगे-आगे तेनसिंग और उनके बिलकुल पीछे हिलेरी!!

ध्वजारोपण—पृथ्वी के सर्वोच्च पर्वत शिखर पर पहुँच कर इन वीरों का आह्लाद-विभोर हो जाना स्वाभाविक ही था किन्तु इसके लिए इनके पास समय नहीं था। तेनसिंग ने हिम कुठार से जगह खोद कर कुठार के डंडे पर ही भारत, नैपाल, ब्रिटेन तथा संयुक्त राष्ट्रों के झंडे लगा दिए। तेनसिंग बौद्ध हैं। इसलिए उन्होंने शिखर की देवी को अभिवादन किया और देवी देवताओं की मनौती मनाई। हिलेरी ने झंडा फहराते समय तेनसिंग का चित्र लिया किन्तु झंझा के वेग के कारण वहाँ अधिक ठहरना असम्भव था, इसलिए शीघ्रातिशीघ्र ये लोग मानव जाति की चिर-संचित साध को पूरा करके नीचे उतरने लगे। थकावट के मारे शरीर चूर-चूर हो रहा था लेकिन विजयोल्लास की मादकता के कारण वह सब-कुछ भूले हुए थे। नीचे कैम्प में इनके साथी इनके शुभ स्वागत के लिए पलक-पाँवड़े बिछाये हुए थे। वहाँ पहुँचते ही साथियों ने बेतार के तार से काठमाण्डू को सूचना दी। बात ही बात में यह शुभ समाचार विश्व भर में फैल गया। इन दिनों ब्रिटेन में महारानी एलिजाबेथ के राज्याभिषेक के उपलक्ष में अत्यन्त हर्ष एवं उल्लास छा रहा था। पर्वतारोहण की इस अद्वितीय सफलता के कारण राज्यतिलक के समारोह में चार चाँद लग गये।

तेनसिंग की सफलता एवं ख्याति—किसी की योग्यता का मूल्यांकन उसके परिश्रम अथवा बलिदान से नहीं, वरन् उसकी सफलता से किया

जाता है। जिस तेनसिंग के नाम से साधारण जनता कुछ ही घंटे पूर्व अनभिज्ञ थी, वही नाम इस पर्वतराज की सर्वोच्च शिखर के विजय-उपलक्ष में बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर अभ्यस्त हो गया। कल का भार-वाहक क्षण मात्र में 'महान्-वीर' में रूपान्तरित हो गया। ऐसे ही उदाहरणों से चरितार्थ होता है कि 'स्त्री चरित्र पुरुषस्य भाग्यं दैवोऽपि न जा नाति कुतो मनुष्यः।' इस सफलता के उपलक्ष में तेनसिंग, हिलेरी तथा आरोहीदल के अन्य सदस्यों का वीरोचित सम्मान करने के लिए विभिन्न देशों की सरकारी एवं सार्वजनिक संस्थाओं में होड़-सी लग गई। नैपाल और भारत में इन वीरों का भव्य स्वागत हुआ। ब्रिटिश सरकार ने तेनसिंग के साथी हिलेरी तथा आरोही दल के नेता कर्नल हंट को 'सर' की उपाधि प्रदान की। ब्रिटिश नागरिक न होने के कारण तेनसिंग को इस उपाधि से विभूषित न किया जा सकता था अतएव उन्हें "जार्ज पदक" प्रदान किया गया जो अब तक किसी विदेशी को नहीं मिला था।

नैपाल राज्य की ओर से तेनसिंग को 'नैपाल-तारा' पदक प्रदान किया गया तथा आजीवन पेंशन देने की घोषणा की गई। दिल्ली आने पर स्वयं प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू उनका स्वागत करने के लिए हवाई अड्डे पर पहुँचे। राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने राष्ट्र की ओर से समस्त आरोही दल का राष्ट्रपति-भवन में भव्य स्वागत किया। उन्होंने तेनसिंग, हिलेरी और सर जॉन हंट को 'स्वर्ण-पदक' से विभूषित किया। इन पदकों पर एवरेस्ट शिखर का दृश्य अंकित है, तथा दूसरी ओर चक्रसहित अशोक-स्तम्भ तथा पदक प्राप्त कर्ता का नाम। नाम के नीचे संस्कृत में 'साहसे श्री प्रतिवसति' वाक्य अंकित है। दिल्ली से तेनसिंग सकुटुम्ब वायुयान द्वारा इंगलैंड गये। वहाँ शानदार स्वागत हुआ और रानी एलिजाबेथ ने उन्हें अपने महल में भोजन के लिए आमंत्रित किया। वहाँ से लौटती बार विशेष निमंत्रण पर तेनसिंग फ्रान्स तथा स्वीज़रलैंड भी गये।

उपसंहार—कुछ व्यक्ति जन्म से बड़े होते हैं, कुछ लोग अनायास

बड़े हो जाते हैं, और कुछ लोग अपने शौर्य और अधिक परिश्रम से बड़े बनते हैं। तेनसिंग की गणना इस अन्तिम श्रेणी में ही है। निरन्तर बीस से अधिक वर्षों तक धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहने के साथ-साथ अनेक अवसरों पर मृत्यु के मुख में निर्भीक प्रवेश करने के गुणों ने ही उनकी इस अद्वितीय एवं असाधारण सफलता का मार्ग प्रशस्त किया है। एवरेस्ट शिखिर पर पहुँच कर न कुबेर का धन मिलेगा, न पारस पत्थर। ऐसा जानते हुए भी तेनसिंग ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए घोर यातनायें सहीं। उनका यह प्रयत्न गीता के शब्दों में आदर्श 'निष्काम' ही माना जायगा। हमें हर्ष और गर्व है कि भारत के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण करने का श्रेय एक भारतीय को ही मिला। सर्वोच्च गिरिशृंग पर ही नहीं, वरन् एक ऐसे दुरूह पर्वत शृङ्ग पर जहाँ देवों की ही गति थी, चढ़कर तेनसिंग ने मानव गौरव को बढ़ाया। साहसी वीर के आगे सारी विघ्न-बाधाएँ सिर झुका लेती हैं और विजय श्री उसका वरण करती है।

मुद्रक–नरसिंह नाथ भार्गव, बी. एस-सी., दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, दरेसी २, आगरा।